दृष्टि का विषय

द्रव्य क्षेत्र अर काल भाव से, होता खण्डित कभी न मैं।
ज्ञानमात्र सुवि शुद्ध भाव हूँ, ध्रुव शुद्धात्म स्वरूपी मैं।।

द्रव्य से सामान्य है अर नित्य है जो काल से
अभेद है जो क्षेत्र से अर एक है जो भाव से
अखण्ड है द्रव्य क्षेत्र से अर काल एवं भाव से
द्रवदृष्टि कर इसमें रमूँ नित में स्वयं ही चाव से

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

दृष्टि का विषय

लेखक

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पी-एच.डी., डी-लिट्

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५

फोन : ०१४१-२७०७४५८, २७०५५८१

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

दृष्टि का विषय : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
प्रथम दो संस्करण : 7 हजार
(25 अप्रैल 2001 ई.)
तृतीय संस्करण : 1 हजार
(21 अप्रैल 2015 ई.)
अक्षय तृतीया **कुल** : **8 हजार**

मूल्य : 10 रुपये

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,
ए-4, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :
सन् एन सन् प्रेस
तिलकनगर, जयपुर

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ
1.	पहला प्रवचन	1
3.	दूसरा प्रवचन	17
4.	तीसरा प्रवचन	31
5.	चौथा प्रवचन	45
6.	पाँचवाँ प्रवचन	61
7.	छठवाँ प्रवचन	80
8.	सातवाँ प्रवचन	92
10.	आठवाँ प्रवचन	106
11.	नौवाँ प्रवचन	115

प्रकाशकीय

डॉ. भारिल्ल की यह अनुपम कृति १४ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी। आत्मार्थी भाई-बहिनों के लिए अत्यन्त उपयोगी इस कृति का मुमुक्षु समाज में न केवल स्वागत हुआ, उपयोग भी भरपूर हुआ है।

डॉ. भारिल्ल को स्वयं इसके पुनर्लेखन का विकल्प आया।

बारह वर्ष बाद ही सही उन्होंने इसका पुनर्लेखन कर दिया है, जिसे प्रकाशित करते हुए हमें अपार प्रसन्नता हो रही है।

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल सिद्धहस्त लेखक व सफल आध्यात्मिक प्रवचनकार हैं। पूज्य कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित विषय को वे जितना सहज व सरल ढंग से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर इसे सर्व ग्राह्य बना देते हैं, उसका कोई सानी नहीं है।

अनेक वर्षों से डॉ. भारिल्ल के साहित्य को प्रकाशन पूर्व ही मैं पढ़ता आया हूँ। 'दृष्टि का विषय' नामक इस कृति को भी मैंने रुचिपूर्वक एवं बारीकी से अनेक बार पढ़ा है। समयसार गाथा ६-७ को समझने के लिए मुझे यह कृति अतिशय उपयोगी है – ऐसा विश्वास हुआ है।

समयसार ग्रन्थ की छठवीं-सातवीं गाथा को आधार बनाकर डॉ. भारिल्लजी ने इस गूढ विषय को सरलतापूर्वक प्रवचनों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है।

सदा की भाँति कम्पोज कार्य दिनेश शास्त्री और प्रकाशन का दायित्व विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने बखूबी सम्हाला है। आवरण को नयनाभिराम बनाने में उनका श्रम सराहनीय है।

आशा है विज्ञजन कृति का सांगोपांग अध्ययन कर अपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करेंगे।

ब्र. यशपाल जैन, *एम.ए.*
प्रकाशनमंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

अपनी बात

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मूल आधार त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा है। उसका स्वरूप जानना प्रत्येक आत्मार्थी को अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि उसे जाने बिना सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति संभव नहीं है। आश्चर्य की बात तो यह है कि आज आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के अनुयायियों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी इसकी चर्चा नहीं होती।

स्वामीजी के अनुयायियों में इसकी चर्चा सर्वत्र चरम पर है। जहाँ देखो, वहाँ यह प्रश्न सबकी जुबान पर रहता है कि दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा में पर्याय शामिल है या नहीं ? यद्यपि स्वामीजी के प्रतिपादन के अनुसार सभी एक स्वर से यह तो स्वीकार करते हैं कि दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा में पर्यायें शामिल नहीं हैं; तथापि उक्त प्रसंग में **पर्याय** शब्द का क्या अर्थ है – अधिकांश लोग यह नहीं समझते।

मैंने उक्त तथ्य को गहराई से अनुभव किया और इसकी चर्चा पण्डितश्री नेमीचन्दजी पाटनी और ब्र. यशपालजी जैन से की। उन्होंने मुझसे उक्त विषय पर प्रवचन करने का अनुरोध किया और प्रस्तुत कृति की भूमिका तैयार हो गई। प्रवचन हुए, उनका पुस्तकाकार प्रकाशन भी आज से तेरह वर्ष पूर्व हो गया।

यद्यपि इसका स्वागत सर्वत्र भरपूर हुआ। अनेक प्रकार के भ्रमों का निवारण भी हुआ; तथापि इसके पुनर्लेखन की आवश्यकता अनुभव की गई।

मैं समय नहीं निकाल पाया और एक युग (बारह वर्ष) ऐसे ही निकल गया। अब इसके पुनर्लेखन का अवसर आया है। यद्यपि मूल विषयवस्तु में कोई अन्तर नहीं आया; तथापि परिमार्जन तो हुआ ही है; सरलता भी आई है।

इसके प्रथम संस्करण के प्रकाशन में जैसा जो सहयोग मिला; उसका उल्लेख पाटनीजी ने अपने प्रकाशकीय में किया ही था और इस संस्करण के प्रकाशकीय में ब्र. यशपालजी ने अपने मनोगत प्रस्तुत किये ही हैं।

२५ जुलाई २०१४ ई. **– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल**

डॉ. भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका	५०.००
२-६. समयसार अनुशीलन भाग १ से ५	१२५.००
७. समयसार का सार	३०.००
८. गाथा समयसार	१०.००
९. प्रवचनसार : ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका	५०.००
१०-१२. प्रवचनसार अनुशीलन भाग १ से ३	९५.००
१३. प्रवचनसार का सार	३०.००
१४. कुन्दकुन्द शतक अनुशीलन	२०.००
१५. नियमसार : आत्मप्रबोधिनी टीका	५०.००
१६-१७. नियमसार अनुशीलन भाग १ से ३	७०.००
१८. छहढाला का सार	१५.००
१९. मोक्षमार्गप्रकाशक का सार	३०.००
२०. ४७ शक्तियाँ और ४७ नय	८.००
२१. पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००
२२. परमभावप्रकाशक नयचक्र	४०.००
२३. चिन्तन की गहराइयाँ	३०.००
२४. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	२०.००
२५. धर्म के दशलक्षण	२०.००
२६. क्रमबद्धपर्याय	२०.००
२७. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (पूर्वार्द्ध)	२०.००
२८. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (उत्तरार्द्ध)	१०.००
२९. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (सम्पूर्ण)	३०.००
३०. बिखरे मोती	१६.००
३१. सत्य की खोज	२५.००
३२. अध्यात्म नवनीत	१५.००
३३. आप कुछ भी कहो	१५.००
३४. आत्मा ही है शरण	१५.००
३५. सुक्ति-सुधा	१८.००
३६. बारह भावना : एक अनुशीलन	१६.००
३७. दृष्टि का विषय	१०.००
३८. गागर में सागर	७.००
३९. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	१२.००
४०. णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	११.००
४१. रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००
४२. आचार्य कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००
४३. युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००
४४. वीतराग-विज्ञान पाठशाला निर्देशिका	१५.००

४५. मैं कौन हूँ	१०.००
४६. रहस्य : रहस्यपूर्ण चिट्ठी का	१०.००
४७. निमित्तोपादान	६.००
४८. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	५.००
४९. मैं स्वयं भगवान हूँ	५.००
५०. ध्यान का स्वरूप	४.००
५१. रीति-नीति	४.००
५२. शाकाहार	३.००
५३. भगवान ऋषभदेव	४.००
५४. तीर्थंकर भगवान महावीर	३.००
५५. चैतन्य चमत्कार	४.००
५६. गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
५७. गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
५८. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
५९. अनेकान्त और स्याद्वाद	३.००
६०. शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	६.००
६१. बिन्दु में सिन्धु	२.५०
६२. जिनवरस्य नयचक्रम	१०.००
६३. पश्चात्ताप खण्डकाव्य	१०.००
६४. बारह भावना एवं जिनेन्द्र वंदना	२.००
६५. कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.५०
६६. शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
६७. समयसार पद्यानुवाद	३.००
६८. योगसार पद्यानुवाद	०.५०
६९. समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
७०. प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
७१. द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
७२. अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
७३. नियमसार पद्यानुवाद	२.५०
७४. नियमसार कलश पद्यानुवाद	५.००
७५. सिद्धभक्ति	१०.००
७६. अर्चना जेबी	१.५०
७७. कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	५.००
७८. शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	५.००
७९-८०. बालबोध पाठमाला भाग २ से ३	७.००
८१-८३. वीतराग विज्ञान पाठमाला १ से ३	१४.००
८४-८५. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ से २	११.००
८६. भगवान महावीर और उनकी जन्मभूमि	३.००

दृष्टि का विषय

पहला प्रवचन

जब-जब भी, दृष्टि के विषय की चर्चा चलती है; तब-तब यह बात प्रमुख रहती है कि दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल है या नहीं ?

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने 'समयसार' नामक ग्रंथाधिराज की पाँचवीं गाथा में कहा है कि **मैं एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा को** निज वैभव से दिखाऊँगा और पहली गाथा में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि मैं **श्रुतकेवलियों द्वारा कथित बात ही कहूँगा,** अपने मन की काल्पनिक बात नहीं कहूँगा।

पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ में अपने **'ग्रंथ की प्रामाणिकता'** की चर्चा की है। आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी भी जब कोई गम्भीर बात कहते थे तो वे उसके साथ एक वाक्य यह भी बोला करते थे कि **मैं जो यह बात कह रहा हूँ; यह बात, सौ इन्द्रों की उपस्थिति में, चार ज्ञान के धारी गणधरदेवों की उपस्थिति में तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यध्वनि में समागत बात है।** इसे मेरी बात समझ कर नहीं सुनना, अपितु इसकी प्रामाणिकता केवली भगवान की वाणी के आधार पर है – ऐसा मानकर सुनना।

यदि स्वामीजी को कोई ऐसी बात ख्याल में आती, जो आगम में नहीं मिली हो; तो वे उस बात को कहकर साथ में ऐसा भी कहते थे कि तुम इसे विचार की कोटि में रखना; क्योंकि मुझे अभी तक इस बारे में कोई आगम प्रमाण नहीं मिला है, यदि इस संबंध में तुम्हें **कोई आगम प्रमाण मिल जाये तो उससे प्रमाणित कर लेना, अन्यथा मेरे कथन को विचार की कोटि में ही रखना।**

ऐसा कहकर वे अपने अन्दर के विकल्प को विचार का बिन्दु

बनाने के लिए कहते थे; लेकिन उसे स्वीकार करने का आग्रह कभी नहीं करते थे।

उन्होंने अहंकारपूर्वक ऐसा कभी नहीं कहा कि भगवान ने कुछ भी कहा हो, आगम में कुछ भी मिलता हो; लेकिन मेरे अनुभव में तो यह आता है और अनुभव की बात ही प्रमाण होती है; इसलिए तुम मेरी बात ही प्रमाण मानना और **आगम की बात प्रमाण नहीं मानना।**

आज कुछ लोग ऐसा कहने लगे हैं कि यदि आगम और ज्ञानी की बात में भिन्नता आ जावे तो ज्ञानी के वचन को ही प्रमाण मानना। इसप्रकार के प्रतिपादन के द्वारा वे लोग उनके द्वारा स्थापित तथाकथित ज्ञानियों के आगमविरुद्ध कथनों को मान्यता दिलाना चाहते हैं; जो किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि क्रान्तिकारी विचारक श्री टोडरमलजी और आध्यात्मरसिक स्वामीजी जो भी कथन करते हैं, उसमें **वे जिनवाणी को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं।**

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी नियमसार गाथा १ में **'केवली और श्रुतकेवली द्वारा कथित'** कहकर तथा समयसार में **'श्रुतकेवली द्वारा कथित'** कहकर उसी वाणी के प्रति निष्ठा व्यक्त की, जो वाणी जिनागम के रूप में हमें आज उपलब्ध है।

समयसार की पाँचवीं गाथा में जो प्रतिज्ञा आचार्यदेव ने की थी; वह प्रतिज्ञा; संक्षिप्त रुचिवाले शिष्यों के लिए तो उन्होंने छठवीं और सातवीं गाथा में ही पूर्ण कर दी, फिर विस्तार रुचिवाले शिष्यों के लिए संपूर्ण समयसार लिखा।

छठवीं-सातवीं गाथाओं की विषयवस्तु इसप्रकार है कि **जो ज्ञायक भाव है, वह अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं है; इसप्रकार इसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह तो वही है, अन्य कोई नहीं। ज्ञानी के चारित्र, दर्शन, ज्ञान – ये तीनों भाव व्यवहार से कहे**

जाते हैं; निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है; ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल है या नहीं ?

उक्त संदर्भ में पर्याय के अर्थ के संबंध में ही सबसे बड़ा भ्रम है; क्योंकि शास्त्रों में बहुत-सी अपेक्षाओं से पर्याय का वर्णन आता है।

इसलिए सबसे पहले हम दृष्टि के विषय के संदर्भ में 'पर्याय' शब्द का सही अर्थ क्या है ? – यह समझेंगे।

यह तो आप जानते ही होंगे कि **जो-जो वस्तुएँ पर्यायार्थिकनय का विषय हैं; उन सबकी पर्याय संज्ञा है और जो-जो वस्तुएँ द्रव्यार्थिकनय का विषय हैं, उन सबकी द्रव्य संज्ञा हैं।**

तात्पर्य यह है कि **समस्त अर्थपर्यायों और व्यंजनपर्यायों के साथ-साथ गुणभेद और प्रदेशभेद आदि भी पर्यायार्थिकनय के विषय हैं; इसलिए वे भी पर्यायें ही हैं।**

द्रव्यदृष्टि से और पर्यायदृष्टि से – इसप्रकार जो 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग है, वह सम्यग्दर्शन का सूचक नहीं है, अपितु अपेक्षा का सूचक है। द्रव्यदृष्टि अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से और पर्यायदृष्टि अर्थात् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से।

इस प्रकरण को समझने से पूर्व यह समझना अत्यन्त आवश्यक है कि नय ज्ञानात्मक होते हैं और पाँचों ही प्रकार के ज्ञान प्रमाण हैं। एक भी ज्ञान, प्रमाण की सीमा से बाहर नहीं हैं; क्योंकि प्रमाण की परिभाषा है – **'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्'** अर्थात् मतिज्ञान से लेकर केवलज्ञान तक जो भी ज्ञान सम्यक् हैं; वे सभी ज्ञान प्रमाणज्ञान हैं।

उन पाँच प्रकार के ज्ञानों में एक श्रुतज्ञान नाम का जो ज्ञान है, उसमें ही नय होते हैं, शेष चार ज्ञानों में नय नहीं होते। कहा भी है कि – **'श्रुतविकल्पा: नया:'** – श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं।

'विकल्प' का अर्थ भेद होता है। श्रुतज्ञान, वस्तु में भेद करके एक अंश को मुख्य करता है और दूसरे अंश को गौण करता है।

यह मुख्य-गौण की व्यवस्था मात्र श्रुतज्ञान प्रमाण में है, अन्य किसी भी ज्ञान में नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने जब श्रुतज्ञान के स्व-परप्रकाशकपने का स्वरूप स्पष्ट किया, तब उन्होंने केवली भगवान का उदाहरण दिया है।

जिसप्रकार केवली भगवान, केवलज्ञान में स्व और पर को एक साथ जानते हैं; ऐसे ही श्रुतज्ञानी के श्रुतज्ञान में भी स्व और पर एक साथ भासित होते हैं, एक साथ जाने जाते हैं।

वहाँ उन्होंने 'केवली' का उदाहरण इसलिए दिया; क्योंकि मुख्य-गौण करते-करते हमारी ऐसी आदत हो गई है कि हम केवलज्ञान में भी मुख्य-गौण करने लग गये और सोचने लगे हैं कि केवली भगवान अपनी आत्मा को मुख्यरूप से जानते होंगे और गौणरूप से दुनिया जानने में आ जाती होगी; पर ऐसा नहीं है।

केवलज्ञान में मुख्य-गौण की व्यवस्था ही नहीं है; क्योंकि वह तो प्रमाणज्ञान है और प्रमाणज्ञान में सभी पक्ष मुख्य ही रहते हैं।

जो अपने माँ-बाप का इकलौता बेटा होता है, वह कहता है कि मैं ही छोटा भाई हूँ और मैं ही बड़ा भाई हूँ, मैं ही भाई हूँ, मैं ही बहन हूँ; इसका अर्थ यह है कि उसके यहाँ छोटे-बड़े और भाई-बहिन का कोई भेद ही नहीं है; क्योंकि वह तो अपने माँ-बाप की एकमात्र संतान है। छोटे-बड़े का भेद तो तब होता, जब वे अनेक भाई-बहिन होते।

केवलज्ञानी को स्व और पर – दोनों ही एक साथ एक से जानने में आ रहे हैं; अतः दोनों मुख्य हैं।

श्रुतज्ञान में भी जिस समय द्रव्यदृष्टि का विषय मुख्यता से जानने में आ रहा है; उसी समय पर्यायदृष्टि का विषय भी गौणपने जानने में आ रहा है। ऐसा नहीं है कि पर्यायदृष्टि का विषय जानने में ही नहीं आ रहा है। इसलिए आचार्यदेव ने ९-१०वीं गाथा व १४४वीं गाथा की टीका में श्रुतज्ञान का स्वरूप समझाने के लिए केवली भगवान के ज्ञान का उदाहरण बार-बार दिया है।

यहाँ एक बात और विशेष दृष्टव्य है कि ये दोनों नय एक ही व्यक्ति में और एक ही काल में घटित होते हैं। **जिससमय केवली भगवान निश्चयनय से अपनी आत्मा को जानते हैं, उसीसमय में वे ही केवली भगवान व्यवहारनय से लोकालोक को जानते हैं। केवली भगवान के ज्ञान में मुख्य-गौण रहता ही नहीं है।**

ऐसा नहीं है कि वे व्यवहार को गौण करते होंगे और निश्चय को मुख्य रखते होंगे। **ये निश्चय-व्यवहार तो केवली भगवान के ज्ञान में हैं ही नहीं।**

नियमसार गाथा १५९ तथा अन्यत्र केवली भगवान पर निश्चय-व्यवहार तो हमने अपनी ओर से लगाए हैं। मैं ऐसा नहीं कहता कि हमने ऐसा करके कोई गलती की है; क्योंकि ये तो आचार्यों ने लगाए हैं। **वास्तव में केवली के तो नय हैं ही नहीं। वे तो प्रतिसमय स्व और पर – दोनों को एकसाथ ही जान रहे हैं।**

ध्यान रहे, नय, श्रुतज्ञानरूप परोक्षज्ञान में ही होते हैं; प्रत्यक्षज्ञान में नय नहीं होते; अत: केवलज्ञान में नय होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

केवलज्ञानी को स्व और पर दोनों ही पदार्थ एक साथ प्रत्यक्ष हैं, प्रत्यक्ष में भी सकल प्रत्यक्ष हैं। **सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में आचार्यदेव ने इस बात पर बहुत वजन दिया है कि वे पदार्थ चाहे समीपवर्ती हों, चाहे दूरवर्ती हों; ज्ञान, उनको एक साथ व एक जैसा ही जानता है।**

स्वामीजी ने भी इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि कोई व्यक्ति यदि ऐसा समझे कि सुमेरु पर्वत तो बहुत दूर है तथा कोई पदार्थ उनके बिल्कुल पास में है; तो वे केवली भगवान सुमेरु पर्वत को देर से जानते होंगे और समीपवर्ती पदार्थ को जल्दी से जान लेते होंगे।

इसीप्रकार दूर का पदार्थ धुंधला दिखता होगा और पास का पदार्थ बिल्कुल साफ दिखता होगा – ऐसा समीपता और असमीपता संबंधी अंतर तो केवली भगवान के है ही नहीं।

केवलज्ञान के समान ही श्रुतज्ञान में भी समीपता और असमीपता संबंधी कोई अंतर नहीं है।

केवली भगवान का पर को जानना व्यवहार है और स्व को जानना निश्चय है – यह तो हमने अपने ज्ञान में लगाया है, उनके ज्ञान में तो नय हैं ही नहीं।

निश्चय-व्यवहारनयों की परिभाषा में आचार्यों ने यह बात कही है कि **स्वाश्रितो निश्चय:** और **पराश्रितो व्यवहार:** – स्वाश्रित कथन निश्चय है और पराश्रित कथन व्यवहार है।

यहाँ आश्रय का मतलब यह नहीं है कि केवली भगवान को परज्ञेयों का आश्रय लेना पड़ता है, इसलिए व्यवहारनय है; अपितु **पर-पदार्थरूप ज्ञेय जानने में आते हैं, इसका नाम पराश्रय है। पर को जानने मात्र के कारण व्यवहार कहा जाता है।**

केवली भगवान अपने आत्मा को 'यह मैं हूँ' – ऐसा जानते हैं, इसलिए निश्चयनय कहा और परपदार्थ 'मुझसे भिन्न है, ये मैं नहीं हूँ' – ऐसा जानते हैं – इसका नाम व्यवहार है।

व्यवहार नाम इसलिए नहीं दिया कि केवली भगवान परपदार्थों को नहीं जानते और हम उन्हें परपदार्थों को जाननेवाला कह रहे हैं।

'परमात्मप्रकाश' में भी कहा है कि वे परपदार्थों को तन्मय होकर नहीं जानते हैं।

यहाँ 'तन्मय होकर जानने' का अर्थ उपयोग की एकाग्रता नहीं है; किन्तु लोक में तो 'तन्मय' शब्द का प्रयोग उपयोग की एकाग्रता के अर्थ में ही किया जाता है। इसका प्रयोग करते हुए लोग कहते हैं कि जो तन्मय होकर काम करेगा, उसे सफलता जरूर मिलेगी।

केवली भगवान के साथ इसप्रकार के दो भेद हो ही नहीं सकते। कोई कहे कि केवली भगवान के उपयोग में भी अस्थिरता रहती होगी, जिससे वे तन्मय होकर नहीं जानते होंगे ? अरे भाई ! केवली के ऐसा

नहीं होता। यह दोष हमारे और तुम्हारे ज्ञान में तो हो सकता है; किन्तु केवली भगवान के ज्ञान में नहीं। केवली भगवान से हम यह शिकायत नहीं कर सकते कि उन्होंने परपदार्थों को मन लगाकर नहीं देखा होगा। यह शिकायत किसी डॉक्टर से तो कर सकते हैं कि लम्बी-लम्बी लाईन (कतार) होने के कारण उन्होंने ध्यान नहीं दिया, पर केवली भगवान से ऐसी शिकायत नहीं की जा सकती है।

इसलिए यहाँ 'तन्मय' का अर्थ उपयोग की एकाग्रता नहीं है। 'तन्मय होना' यहाँ यह श्रद्धा गुण की बात है। 'ये मैं हूँ' – ऐसी बुद्धि का नाम है – तन्मय होना। केवली भगवान अपनी आत्मा को ऐसा जानते हैं कि 'यह मैं हूँ' इसी का नाम है तन्मय होना। तन्+मय अर्थात् मैं उसी रूप हूँ।

घड़ा मिट्टीमय है, इसका नाम है 'घड़ा' मिट्टी से तन्मय है और कुम्हार से तन्मय नहीं अथवा मिट्टी घड़े से तन्मय है और कुम्हार घड़े से तन्मय नहीं है। 'तन्मय' अर्थात् मिट्टी स्वयं घड़ेरूप परिणमित हुई है, घड़े के रोम-रोम में मिट्टी समाई हुई है।

इसीप्रकार केवली भगवान को भी स्वयं के त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा के बारे में ''यह ही मैं हूँ'' इस दृढ़ता के साथ जो प्रतीति है, उसी का नाम है तन्मय होना और पर के प्रति जो दृढ़ता से विश्वास है कि ''यह मैं नहीं हूँ'' इसी का नाम है अतन्मय होना।

अपनी आत्मा को एकत्वबुद्धिपूर्वक जानने के कारण उसको निश्चय कहा। निश्चय कहने का एकमात्र हेतु यही है और परपदार्थों को ''यह मैं नहीं हूँ'' – ऐसा जानना ही अतन्मय होकर जानना है और इसलिए ही इसे व्यवहार कहा।

अपनी आत्मा को ''यह मैं हूँ'' ऐसा जानने को एकाकार होना भी कहते हैं। 'एकाकार' का मतलब भी उपयोग की एकाग्रता से नहीं है। उपयोग तो ज्ञानगुण में होता है; जबकि 'मैं और ये एक हैं' ऐसी जो श्रद्धा गुण की परिणति है, उसी का नाम एकाकार है।

इसप्रकार केवली भगवान पर निश्चय और व्यवहारनय घटाये जाते हैं। इसका मतलब यह है कि **तुम अपनी आत्मा को ''यह मैं हूँ'' – ऐसा जानोगे, तब तुम्हें निश्चयनय का उदय होगा।**

इसप्रकार यह तो स्पष्ट हो गया कि यहाँ उपयोग की एकाग्रता को 'तन्मय' होना नहीं कहते हैं।

अनुभूति के काल में जो आत्मानुभव प्रकट होता है, मात्र उसी का नाम अनुभव नहीं है। अनुभूति के काल में भगवान आत्मा के दर्शन के साथ उसमें जो एकत्व स्थापित हुआ; वह एकत्व जबतक कायम रहेगा, तबतक अनुभव भी कायम रहेगा। आत्मानुभूति उस समय नहीं रहेगी; लेकिन अनुभव रहेगा।

किसी व्यक्ति को २५ वर्ष का व्यापार का अनुभव हो तो वह व्यक्ति जब खाना खाता है, तब भी उसे वह अनुभव रहता है।

युद्ध में लड़ाई करते समय भी श्रद्धा में 'त्रिकालीध्रुव ही मैं हूँ' – ऐसी प्रतीति रह सकती है कि नहीं ? ज्ञानगुण की प्रगट पर्याय में भी यह बात रहती है कि नहीं ? क्योंकि धारणा प्रगट पर्याय का नाम है। चारित्र में भी अनंतानुबंधी कषाय के अभाव से जो शुद्धि हुई है, वह भी उसे युद्ध के समय विद्यमान है या नहीं ?

अतीन्द्रिय आनंद की जो कणिका उसे जगी थी, वह आनंद उसका समाप्त नहीं हुआ है; क्योंकि वह यदि समाप्त हो जाये तो वह मिथ्यादृटि हो जाये। आप यह नहीं कह सकते हैं कि उसे अनुभव नहीं है।

नाश्ता करने के बाद जो तृप्ति मिलती है, वह तृप्ति उसके बाद भी कायम रहती है। डॉक्टर भी कहते हैं कि पेट में पड़े हुए अनाज का स्वाद मुँह में आता रहता है। करेला खाने के बाद मुँह में कड़वी डकारें आती रहती हैं, मुँह कड़वा बना रहता है। इससे यह निश्चित हुआ कि तृप्ति नाश्ता करने के बाद भी रहती है; क्योंकि नाश्ता करने के बाद वैसी अतृप्ति नहीं रहती, जैसी नाश्ता करने के पहले थी।

वह तृप्ति, ज्ञान में से एक भी समय को नहीं निकलती है; उस तृप्ति पर ध्यान जाए या न जाए – यह अलग बात है; लेकिन ज्ञान में से एक समय के लिए भी वह तृप्ति नहीं निकलती।

जिसे हम लोग उपयोग समझते हैं, वह तो ध्यान की बात है। **'ध्यान' का अर्थ ही उपयोग की एकाग्रता होता है। आत्मा ध्यान से चौबीस घंटा ही खाली नहीं है अर्थात् कहीं न कहीं उपयोग लगा ही रहता है।**

निश्चय-व्यवहारनय की चर्चा में जो यह कहा था कि केवली भगवान स्व और पर को एकसाथ जानते हैं, वहाँ दूरी से कोई मतलब नहीं है; क्योंकि जो स्व है, वह तो कभी दूर होता ही नहीं है; दूरी तो पर के संबंध में ही संभव है। परपदार्थ ही कोई कम दूर हो सकता है, कोई ज्यादा दूर हो सकता है; किन्तु स्व के साथ तो कभी समीपता या असमीपता का सवाल ही नहीं है। वे केवली भगवान स्व और पर को – चाहे वे समीप हों या असमीप हों, एक साथ ही जानते हैं।

केवली भगवान के ऊपर नय लगाने का तो मात्र इतना प्रयोजन है कि हमें यह समझ में आ जाये कि नय एक समय में एक ही व्यक्ति पर लगते हैं।

केवली भगवान, अपनी आत्मा को जानने के कारण निश्चय केवली हैं और पर को जानने के कारण व्यवहारकेवली हैं। वे स्व और पर को प्रतिसमय एक साथ जानते हैं। ऐसा नहीं है कि जब वे 'स्व' को जानेंगे तब वे निश्चयकेवली होंगे और जब वे पर को जानेंगे, तब व्यवहारकेवली होंगे। उन केवली भगवान में न तो व्यक्तिभेद है, न क्षेत्रभेद है, न ही कालभेद है।

केवली भगवान तो एक ही है, हमने उनके निश्चयकेवली और व्यवहारकेवली ऐसे दो भेद कर दिए। **जिस समय स्व को जानने के कारण वे निश्चयकेवली हैं, उसी समय पर को जानने के कारण वे व्यवहारकेवली हैं।**

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब केवली भगवान को निश्चय-

व्यवहार की जरूरत ही नहीं है तो हमने केवली भगवान पर निश्चय-व्यवहार लगाए ही क्यों ?

जैसे – हम कहें कि हमारी संस्था के सदस्य बन जाओ और पाँच-पाँच हजार रुपये की किश्तों में पच्चीस हजार रुपये दे देना। किन्तु कोई ऐसा कहे मैं तो पूरे पच्चीस हजार एक साथ ही दूँगा; क्योंकि कल का क्या भरोसा ? तो उसको देने के लिए हम मना नहीं करते; लेकिन हमारे यहाँ किश्तों में देने की सुविधा है – यह अवश्य बता देते हैं।

श्रुतज्ञानियों को तो यह सुविधा है कि वे किश्तों में जानें, लेकिन केवली भगवान एक साथ जान सकते हैं; इसलिए वे एक साथ जानें, उन्हें आगे-पीछे जानने की सुविधा नहीं है।

इसलिए बारम्बार ऐसा कहते हैं कि **जिसप्रकार केवली स्व और पर को एक साथ जानते हैं; उसीप्रकार श्रुतज्ञान में भी स्व और पर एक साथ जानने में आते हैं; क्योंकि स्व-परप्रकाशक तो आत्मा का स्वभाव है।**

आत्मा के इस स्व-परप्रकाशक स्वभाव में कालभेद नहीं होता है।

यह स्व-परप्रकाशक स्वभाव प्रतिसमय का स्वभाव है, यह कादाचित्क स्वभाव नहीं है। ज्ञान में/उपयोग में ऐसी कमजोरी है ही नहीं कि वह स्व-पर को एक साथ नहीं जान पाये।

केवलज्ञान में तो स्व और पर दोनों एक साथ झलकते हैं, जबकि क्षयोपशमज्ञान का यह नियम है कि ज्ञान की प्रत्येक क्षयोपशम पर्याय में क्या ज्ञेय बनेगा – यह निश्चित है। श्रुतज्ञान में जितना ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होगा, उतना जानेगा। यदि लाख को जानने का क्षयोपशम है तो लाख को जानेगा और यदि एक को जानने का क्षयोपशम है तो एक को जानेगा।

यदि एक पदार्थ को ही जानने का क्षयोपशम एक बार में हो तो कोई भी पदार्थ जानने में नहीं आयेगा; क्योंकि इन्द्रियज्ञान से तो पुद्गल ही जानने में आता है और 'एक' तो पुद्गल परमाणु है और पुद्गल

परमाणु तो इन्द्रियों की पकड़ में आता ही नहीं है। जानने में तो स्कन्ध ही आता है और स्कन्ध में तो अनेक द्रव्य हैं।

असली परेशानी तो यह है कि जानने में एक परमाणु पदार्थ नहीं आ रहा है, अनेक अर्थात् बहुत जानने में आ रहे हैं। इसीप्रकार देह से मिला हुआ आत्मा तो जानने में आ रहा है; लेकिन भिन्न आत्मा जानने में नहीं आ रहा है।

हम लोग जो ये कहते हैं कि एक समय में एक को ही जानेगा, दो को नहीं जानेगा – यह कथन तो बहुत स्थूल है। यह कथन तो उनके लिए करते हैं, जो दुनिया के सभी काम एक साथ ही करना चाहते हों। उनके लिए ही ऐसा कथन करते हैं कि दस काम एक साथ नहीं होंगे, किन्तु जो एक काम में दस काम होते हैं, वो तो एक साथ ही होते हैं। जैसे – रोटी बनाना, यद्यपि एक काम है, तथापि इसमें रोटी बेलना, तवे पर रखना आदि अनेक काम भी एक साथ होते ही हैं। लेकिन यदि कोई प्रवचन भी सुनना चाहे और रोटी भी पकाना चाहे तो ऐसे ये दो काम एक साथ नहीं हो सकते। इसीप्रकार लोग यह भी कहने लगे हैं कि दो पदार्थ एक साथ जानने में नहीं आते; किन्तु ऐसा नहीं है। अनेक पदार्थों को एक साथ जानना तो आत्मा का स्वभाव है।

स्वामीजी ने भी कहा है कि स्व-परप्रकाशक स्वभाव का अर्थ यह है कि स्व और पर दोनों एक साथ जानने में आते हैं और यह स्वभाव एक समय के लिए भी अस्त नहीं होता है। यहाँ तक कि निगोदिया जीव को भी स्व और पर – दोनों एक साथ जानने में आ रहे हैं।

निगोदिया जीव को 'पर्याय' नाम का सबसे अल्प ज्ञान होता है और वह निरावरण होता है अर्थात् उस पर किसी कर्म का आवरण नहीं होता। एक अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान होता है। ऐसे अल्प ज्ञान के धारी निगोदिया जीव को भी स्व और पर दोनों जानने में आ रहे हैं।

ज्ञानी को तो स्व-परप्रकाशक स्वभाव प्रगट हो गया है, लेकिन

अज्ञानी को वह प्रगट नहीं हुआ है; तब भी उस अज्ञानी को स्व व पर दोनों जानने में आ रहे हैं।

समयसार की १७-१८वीं गाथा में भी कहा कि आबाल-गोपाल सभी को भगवान आत्मा जानने में आ रहा है।

अरे भाई ! उसे 'अज्ञानी' कहने का कारण मात्र इतना ही है कि – वह 'यह मैं हूँ' – ऐसा नहीं जानता और इसीलिए उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा के अनुभव में आने पर भी आत्मज्ञान उदित नहीं होने का कारण मात्र अपने भगवान आत्मा में 'यह मैं हूँ' – ऐसा ज्ञान उदित नहीं होना है और इसीलिए उसे अज्ञानी कहते हैं।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि 'यह मैं हूँ' यह तो श्रद्धागुण की बात है।

अरे भाई ! यह श्रद्धा की ही नहीं, ज्ञानगुण में भी ऐसा ही है। जब ज्ञान, आत्मा को 'यह मैं हूँ' ऐसा जाने, तब सम्यग्ज्ञान का उदय होता है।

समयसार की १८वीं गाथा में कहा कि आबाल-गोपाल सभी को भगवान आत्मा अनुभव में आ रहा है; लेकिन उनको **'यह मैं हूँ'** – ऐसा सम्यग्ज्ञान उदित नहीं हुआ है। आत्मा के अनुभव में न आने की तो कोई समस्या ही नहीं है।

यदि लाईट (बिजली) न होने की समस्या हो तो उसके लिए दो बातें हो सकती हैं। एक तो यह कि लाईट की फिटिंग ही न हो; लाईट का कनेक्शन सरकार ने दिया ही न हो। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि सरकार ने कनेक्शन भी दिया हो और पूरी लाईन भी हो; लेकिन एक आड़े बाल के बराबर तार अलग-अलग हो गये हों, बस उनको जोड़ना है; यह एक समस्या है। इस दूसरी समस्या में बस एक फ्यूज की बात है, वह फ्यूज जुड़ गया तो पूरे घर में लाईट आ जायेगी।

उसीप्रकार अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा भी है और वह निरन्तर अनुभव में भी आ रहा है।

यह तो समस्या ही नहीं है कि सामग्री नहीं है अर्थात् गुरु नहीं है या देव नहीं है; क्योंकि कर्ता के अनुसार कर्म होता है और कर्त्ता-कर्म तो अनन्य होते हैं। यदि गुरु से, शास्त्र से या भगवान की दिव्यध्वनि से ज्ञान हो तो कर्त्ता अन्य हो जाये और कर्म अन्य हो जाये।

अरे भाई ! **ज्ञानगुण में से ज्ञान आता है और श्रद्धागुण में से श्रद्धान। अनादिकाल से अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान तो है ही; यदि उस आत्मा में 'यह मैं हूँ' – ऐसा अपनापन स्थापित हो जाये और जबतक 'यह मैं हूँ' – ऐसा अपनापन रहे, तबतक अनुभव भी कायम रहेगा।**

"भगवान आत्मा नित्य अनुभव में आ रहा है" – इस कथन को इस घटना से भलीभाँति समझ सकते हैं कि कलकत्ता शहर में शरदचंद्र चट्टोपाध्याय जैसे एक बंगाली उपन्यासकार रहते थे। वे एक अच्छे लेखक थे। वे मकान की तीसरी मंजिल पर रहते थे।

प्रकाशक बहुत होशियार होते हैं, ये लेखक का मात्र नाम ही लिखते हैं; उसका पता नहीं लिखते तथा लेखक से कहेंगे कि यदि आपका पता लिखा तो लोग आपसे मिलने आयेंगे और आप परेशान हो जायेंगे, इसलिए हम ऐसा कर रहे हैं। कभी-कभी तो प्रकाशक लोग लेखक का नाम ही बदल कर दूसरे नाम से उपन्यास प्रकाशित करते हैं। इसप्रकार दूसरे के नाम से सैंकड़ों किताबें छपती रहती हैं।

ऐसा ही उस लेखक के साथ हुआ कि उसके उपन्यास भी अन्य नाम से प्रकाशित होते रहे।

उसी मकान में पाँचवीं मंजिल पर एक आदमी रहता था, जिससे प्रकाशक उस लेखक की किताबों का अनुवाद कराते थे; लेकिन उस लेखक को यह मालूम नहीं है कि मेरी किताबों का यह अनुवादक है और उस अनुवादक को भी यह पता नहीं कि मैं जिस लेखक की किताबों का अनुवाद करता हूँ, वह लेखक यहीं, इसी मकान में रहते हैं।

लेखक और अनुवादक दोनों विक्टोरिया गार्डन में सुबह घूमने के

लिए जाते थे, वहाँ एक-दूसरे से मिलते और परस्पर नमस्ते भी करते थे। लेखकों की आदत अधिक बात करने की नहीं होती है; इसलिए वे एक-दूसरे से अधिक घुले-मिले नहीं। इसप्रकार बीस वर्ष गुजर गये।

घूमते समय एक दिन जोर की बारिश आयी और वे दोनों पाँच-दस मिनिट के लिए एक साथ एक वृक्ष के नीचे खड़े हो गये। तब उन्होंने एक-दूसरे से परिचय किया और पता चला कि यह मेरी किताबों के अनुवादक हैं और यह लेखक। इसप्रकार बीस साल बाद उन्हें पता चला। जब उन्होंने आपस में एक-दूसरे को जाना होगा, तब गले मिले होंगे कि नहीं ? उनके अन्दर आनन्द की कणिका जगी होगी कि नहीं ?

अब मेरा यह प्रश्न है कि वे पहले एक-दूसरे को जानते थे कि नहीं?

अरे भाई ! वे दोनों सबकुछ जानते थे, लेकिन वे दोनों यह नहीं जानते थे कि यही वह आदमी है अर्थात् लेखक यह नहीं जानता था कि यह मेरी किताबों का अनुवादक है और अनुवादक यह नहीं जानता था कि यह वही लेखक है, जिसकी किताबों का मैं अनुवाद करता हूँ। उन दोनों के बीच में बस इतनी सी दूरी थी।

उसीप्रकार भगवान आत्मा चौबीसों घंटे हमारे जानने में आ रहा है, लेकिन हमें यह पता नहीं है कि 'यह ही मैं हूँ' बस हमारा इतना सा अज्ञान है।

किसी व्यक्ति की २० या २२ वर्ष की सुन्दर लड़की हो और उसके पड़ौसी मित्र का २५ साल का जवान लड़का हो। दोनों आपस में मिलते-जुलते हैं और एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते हैं। लड़का भी लड़की के पिता के पैर छूता है और वह व्यक्ति उस लड़के को आशीर्वाद भी देता है, लेकिन उस व्यक्ति को कभी ऐसा विकल्प भी नहीं आता है कि मेरी लड़की का संबंध इस लड़के से भी हो सकता है।

जब वह व्यक्ति किसी पण्डितजी से अच्छा सा लड़का बताने के लिए कहते हैं कि ऐसा लड़का बताओ जो अच्छा हो, पढ़ा-लिखा

हो; तब वे पण्डितजी कहते हैं कि तुम्हारे बगल में जो पड़ौसी का लड़का है, वह कैसा रहेगा ?

तो वह व्यक्ति कहता है – यह तो मैंने सोचा ही नहीं था और वे अपने पड़ौसी मित्र के यहाँ गए और कहा कि हमने अपनी लड़की के लिए बहुत से लड़के देखे; लेकिन अच्छा लड़का कोई मिला ही नहीं।

भाईसाहब ! क्या ऐसा नहीं हो सकता है कि मेरी लड़की का संबंध आपके लड़के से हो जाये ?

पड़ौसी मित्र बोले – "क्यों नहीं हो सकता है ? लेकिन यह बात मैं पहले कैसे कहता ? विकल्प तो मुझे भी बहुत दिनों से है।"

उस व्यक्ति के द्वारा उस लड़के को कल तक के जानने-पहिचानने में और आज के जानने-पहिचानने में कोई अंतर हो गया कि नहीं ? उसमें अपनापन जागृत हो जायेगा कि नहीं ?

अरे भाई ! भगवान के ज्ञान में तो ये पहले से ही था। प्रकृति ने भी उन पति-पत्नी को पड़ौस में ही पैदा किया था, यह तो उस व्यक्ति का अज्ञान था कि उसको कभी ऐसा विकल्प ही नहीं आया। अज्ञान ऐसा नहीं था कि वह पड़ौस के बच्चे को जानता ही नहीं था; लेकिन उसे इस रूप में जानने के बाद उस लड़के से अपनापन जागृत होगा कि नहीं ?

उसीप्रकार अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा को जानने के बाद भी जबतक यह ऐसा नहीं जानेगा कि 'यह मैं हूँ' तबतक आनन्द की कणिका नहीं जगेगी।

इसीलिए तो यह कहा जाता है कि ११ अंग और ९ पूर्व के पाठी होने पर भी आत्मा को नहीं जाना। अरे भाई ! वे आत्मा को तो जानते हैं; क्योंकि ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि ग्यारह अंग में 'आत्मा' नहीं लिखा हो। वे यह सब तो जानते हैं कि आत्मा आनन्द का रसकंद है, ज्ञान का घनपिण्ड है, शक्तियों का संग्रहालय है। इतना सब जानने के बाद भी वे **'यह मैं हूँ' ऐसा नहीं जानते और यदि जानते हैं तो देहादिक**

या रागादिक के अंश को भी अपना जान लेते हैं, जिससे मिथ्यात्व बना ही रहता है।

जिसे हम दृष्टि का विषय कहते हैं और उसे पर्याय से भी भिन्न कहते हैं; **यहाँ पर्याय का अर्थ यह है कि जो-जो पर्यायार्थिकनय का विषय है, वह पर्याय है।**

न तो हम हिन्दू को भारतीय कह सकते हैं और न मुसलमान को, न जैन को, न बौद्ध को और न स्त्री को, न पुरुष को और न बच्चों को, न जवान को; क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि कोई हिन्दू, मुसलमान अमेरिकी नागारिक हो। पर जो भारतवर्ष का नागरिक है, वह नियम से भारतीय है; उसीप्रकार जो पर्यायार्थिकनय का विषय है, वह नियम से पर्याय है।

प्रश्न – आप ऐसा कहते हो कि हम अपनी आत्मा को हर समय जान रहे हैं; लेकिन ऐसा भी तो कहा जाता है कि –

जाना नहीं निज आत्मा, ज्ञानी हुए तो क्या हुए।
ध्याया नहीं निज आत्मा, ध्यानी हुए तो क्या हुए।।

'आबाल-गोपाल को अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा अनुभव में आ रहा है।' आपके इस कथन से क्या आगम के उन कथनों को तिलांजलि नहीं देनी होगी; जिनमें यह कहा गया है कि अनादि मिथ्यादृष्टियों ने आजतक आत्मा को जाना ही नहीं है।

उत्तर – अरे भाई! घबड़ाने की जरूरत नहीं है, किसी को तिलांजलि नहीं देनी पड़ेगी। हमें अपने अज्ञान को ही तिलांजलि देनी होगी।

जहाँ ऐसा कहा है कि 'अनादिकाल से अपनी आत्मा को नहीं जाना', वहाँ ऐसा अर्थ करना कि **'यह मैं हूँ' – ऐसा नहीं जाना, उसका नाम अपनी आत्मा को नहीं जानना है और जहाँ अनादिकाल से अपनी आत्मा को जानने की बात कही हो, वहाँ यह समझना कि आबाल-गोपाल सभी को भगवान आत्मा जानने में आ रहा है; इसलिए हम भी भगवान आत्मा को निरन्तर जान रहे हैं।** ●

दूसरा प्रवचन

'समयसार परमागम की छठवीं-सातवीं' गाथा के आधार पर यह चर्चा चल रही है कि दृष्टि का विषय क्या है ?

जिस भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन है, जिस भगवान आत्मा को निजरूप जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और जिस भगवान आत्मा में रमण करने का नाम सम्यक्चारित्र है; उसी भगवान आत्मा में हमें अपनापन स्थापित करना है, उसी को निजरूप जानना है और उसी का ध्यान करना है।

यदि उस भगवान आत्मा के स्वरूप को समझने में कोई भूल रह जाती है तो मिथ्यात्व का अभाव नहीं होगा।

जिसप्रकार देहादिक परपदार्थ में एकत्व के कारण मिथ्यात्व ही रहता है, उसीप्रकार यदि हमने किसी अन्य पदार्थ को आत्मा जानकर उसमें एकत्व स्थापित कर लिया तो भी हमें मिथ्यादर्शन की ही प्राप्ति होगी।

छठवीं गाथा में प्रमत्त-अप्रमत्त दशाओं से और सातवीं गाथा में गुणभेद से भिन्नता की बात कही है।

इन दोनों ही गाथाओं में पर्याय से भिन्नता की ही बात है; क्योंकि **प्रमत्त और अप्रमत्त दशायें तो पर्यायें हैं ही; साथ ही गुणभेद भी पर्याय ही है; क्योंकि वह भी पर्यायार्थिकनय का विषय है।**

यह तो पहले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि जो-जो पर्यायार्थिकनय का विषय बनेगा; उन सभी की पर्याय संज्ञा है।

सातवीं गाथा में भगवान आत्मा में गुणों का निषेध इष्ट नहीं है; क्योंकि अनन्त गुणों का अखण्डपिण्ड तो भगवान आत्मा है ही। **निषेध तो गुणभेद का है और गुणभेद पर्यायार्थिकनय का विषय होने से पर्याय ही है; यह बात अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।**

यहाँ एक **प्रश्न** सम्भव है कि यदि दृष्टि के विषयभूत आत्मा में

पर्याय शामिल नहीं है तो फिर उस आत्मा के द्वारा जानने का काम भी सम्भव नहीं होगा; क्योंकि जानना तो स्वयं पर्याय है। जाननेरूप पर्याय के कारण ही आत्मा ज्ञायक कहा जाता है। जाननेरूप पर्याय के निषेध हो जाने पर आत्मा को ज्ञायक कहना भी सम्भव नहीं होगा ?

सातवीं गाथा में तो साफ-साफ कहा है कि आत्मा ज्ञान नहीं है, दर्शन नहीं है और चारित्र भी नहीं है; वह तो मात्र ज्ञायक ही है।

सातवीं गाथा मूलत: इसप्रकार है –

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरितं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।७।।

(हरिगीत)

दृग ज्ञान चारित जीव के हैं – यह कहा व्यवहार से।
ना ज्ञान दर्शन चरण ज्ञायक शुद्ध हैं परमार्थ से।।

ज्ञानी (आत्मा) के ज्ञान, दर्शन और चारित्र – ये तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं; निश्चय से ज्ञान नहीं है, दर्शन नहीं और चारित्र भी नहीं है; ज्ञानी (आत्मा) तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

यहाँ कोई ऐसा भी प्रश्न कर सकता है कि यहाँ तो आप कह रहे हो कि आत्मा ज्ञान नहीं है; जबकि हमने तो वह कलश भी पढ़ा है, जिसमें यह कहा है कि आत्मा ज्ञान ही है।

वह कलश इसप्रकार है –

(अनुष्टुप्)

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्त्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्।।[१]

(सोरठा)

ज्ञानस्वभावी जीव, करे ज्ञान से भिन्न क्या?
कर्ता पर का जीव, जगतजनों का मोह यह ।।६२।।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; अत: वह जानने के अतिरिक्त और क्या करे ? अर्थात् वह मात्र जाननेवाला ही है। आत्मा परभावों

१. समयसार, कलश ६२

का कर्त्ता है – ऐसा मानना व्यवहारीजनों का मोह है, अज्ञान है अर्थात् व्यवहारीजन मोह से ऐसा कहते हैं।

इसमें तो यही लिखा है कि आत्मा ज्ञान है और स्वयं ज्ञान है। 'स्वयं ज्ञान है' से तात्पर्य यह है कि ज्ञान गुण के संयोग से आत्मा 'ज्ञान' नहीं है। जैसा कि नैयायिक मानते हैं कि ज्ञान गुण अलग है और आत्मा अलग है और ज्ञान गुण के संयोग के कारण आत्मा ज्ञान है अर्थात् ज्ञानी है। ऐसे नैयायिकों की भाँति आत्मा ज्ञानगुणवाला नहीं है, अपितु वह तो स्वयं ज्ञान है, ज्ञानस्वरूप है।

अरे भाई ! इन दोनों कथनों की अलग-अलग अपेक्षायें हैं और उन्हीं अपेक्षाओं की बात यहाँ कह रहे हैं।

इस बात को ध्यान में रखना बहुत ही जरूरी है कि पर्याय को दृष्टि के विषय में से निकाला, वस्तु में से नहीं; तथा गौण के अर्थ में ही पर्याय के अभाव की बात कही है, सर्वथा अभाव के अर्थ में नहीं।

छठवीं गाथा में 'पर्याय से पार' की बात कही गई है और सातवीं गाथा में गुण-भेद से भिन्नता की बात कही गई। यदि दोनों को एक शब्द से कहना हो तो कैसे कहेंगे ?

'गुणपर्याय से पार' – ऐसा तो कहेंगे नहीं। नय तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये ही दो हैं, 'गुणार्थिक' नाम का नय तो है ही नहीं।

जिसप्रकार छठवीं गाथा में पर्याय से पार, बताया गया है; उसीप्रकार सातवीं गाथा में भी 'गुणभेद से भिन्न' कहकर पर्याय से भी पार बताया है, **गुण से भिन्न नहीं बताया है; क्योंकि गुणभेद का नाम भी तो पर्याय ही है।** पूर्व में पर्याय की जो परिभाषा बताई थी कि जो पर्यायार्थिकनय का विषय है, वह पर्याय है और गुणभेद पर्यायार्थिकनय का विषय है, न कि द्रव्यार्थिकनय का; इसलिए **गुणभेद भी पर्याय ही है।**

हमें यह बहुत अटपटा लगता है कि गुणों को तो दृष्टि के विषय में शामिल कर लिया और गुणभेद को पर्याय में शामिल करके पर्याय कहकर निषेध कर दिया।

इसमें अटपटा लगने लायक कुछ भी नहीं है; क्योंकि हम बाजार से पूरा आम खरीद कर लाते हैं। पच्चीस रुपये के किलो के हिसाब से उसके पूरे पैसे भी दे देते हैं। गुठली और छिलका भी आम के भाव तुलकर आया था; रस तो सभी पी लेते हैं; लेकिन छिलके और गुठली को फेंक दिया जाता है।

उसीप्रकार यहाँ भी प्रयोजन की दृष्टि से गुण और गुणभेद इन दोनों को अलग-अलग पक्ष में खड़ा कर दिया, **एक का तो दृष्टि के विषय में शामिल कर लिया और एक को दृष्टि के विषय में से निकाल दिया। यह सब नयदृष्टि का ही कमाल है।**

इसलिए दोनों नयों के सम्यक् प्रयोग के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। **द्रव्यार्थिकनय का विषय ही दृष्टि का विषय है। अत: दृष्टि के विषय को समझने के लिए द्रव्यार्थिकनय के स्वरूप को, उसके विषय को अच्छी तरह समझना ही होगा।**

अखण्डरूप से असंख्यात प्रदेश अर्थात् असंख्यातप्रदेशी अखण्ड आत्मा तो दृष्टि का विषय है ही; किन्तु पृथक्-पृथक् असंख्य प्रदेश दृष्टि के विषय में शामिल नहीं हैं। **प्रदेश इसलिए दृष्टि के विषय से बाहर हुए; क्योंकि उन्हें असंख्य कहकर भेद खड़ा कर दिया गया है।**

गुणों के तो अलग-अलग नाम हैं, हर गुण का स्वरूप भी अलग-अलग है; लेकिन प्रदेशों के तो कोई नाम ही नहीं है। नाम तो भिन्नता बताने के लिए रखा जाता है और प्रदेशों में कोई स्वरूप भिन्नता है ही नहीं, तथापि असंख्य असंख्य कहकर उनमें जो भेद उत्पन्न किया गया; उसके ही कारण प्रदेशभेद को दृष्टि के विषय में शामिल नहीं किया गया।

गुणों का तो स्वरूप ही भिन्न-भिन्न है। ज्ञान गुण का स्वरूप जानना है, दर्शन का स्वरूप देखना है, श्रद्धागुण का स्वरूप अपनापन स्थापित करनेरूप है, सुख का स्वरूप आनन्दरूप है। इन गुणों का स्वरूप अलग-अलग होने से इनके ये नाम रख दिये गए।

जब हम किसी गुण का नाम लेते हैं तो नाम लेते ही गुण का भेद खड़ा हो जाता है। अरे भाई ! आत्मा ऐसे ही अनन्त गुणों का अखण्ड अभेद एक पिण्ड है। **अकेला ज्ञानगुण आत्मा नहीं है।**

पूज्य गुरुदेवश्री भी इसको बहुत अच्छी तरह स्पष्ट करते थे कि किसी ने उनसे यह प्रश्न किया कि जब ज्ञान, आत्मा का लक्षण है, ज्ञान से आत्मा की पहिचान होती है; तो आत्मा को ज्ञान क्यों नहीं कह सकते ? तो उन्होंने कहा कि **अकेले ज्ञान को ही आत्मा कहने से आत्मा के अनन्त गुणों की उपेक्षा होती है, ज्ञान, कहने से पूरा आत्मा ख्याल में नहीं आता है।**

यदि किसी ने ज्ञान को ही आत्मा समझ कर मात्र ज्ञान में ही अपनापन स्थापित किया और सुख आदि गुणों में भी अपनापन स्थापित नहीं किया, तो उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होगी।

सुख के संबंध में ऐसा होता है कि बहुत से माँ-बाप अपने बेटों को और गुरु अपने शिष्यों को समझाते हैं कि बेटा ! अभी थोड़ी तकलीफ भोग लोगे तो भविष्य में बहुत आराम पाओगे और यदि अभी आराम भोगोगे तो भविष्य में दुःख पाओगे। यही उम्र तुम्हारी काम करने की है। यदि अभी ९ बजे तक सोते रहोगे और आराम-मस्ती करते रहोगे तो सारी जिन्दगी चपरासी ही बने रहोगे; लेकिन यदि अभी रात के दो-दो बजे तक जाग लिया और ढंग से पढ़ाई कर ली तो सैंकड़ों चपरासी तुम्हारे सामने सेवा में खड़े रहेंगे।

ऐसा ही नीतिकारों ने भी लिखा है –

''सुखार्थिनो कुतो विद्या, विद्यार्थिनो कुतः सुखम्।''

सुख के चाहनेवाले को विद्या कहाँ से प्राप्त होगी और विद्यार्थी को सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ?

पर; मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या यह ठीक है कि दुःख का बीज बोओगे तो सुख का वृक्ष उगेगा या अभी सुख भोगोगे तो भविष्य में

दु:ख होगा ? जैनधर्म तो यह कहता है कि अभी तुम सुखी होगे तो भविष्य में भी सुखी होगे।

सारा जगत तो सुख का अर्थ यह समझता है कि नौ बजे तक सोना सुख है और पाँच बजे सुबह उठना दु:ख है। इसी को आधार बनाकर यह कहते हैं कि अभी वर्तमान में दु:ख भोग लो तो भविष्य में सुखी रहोगे।

मैं पूछता हूँ कि जो शिविरों में पाँच बजे प्रवचनों के लिए उठ जाते हैं और सुबह पाँच बजे जो भगवान का नाम लेते हैं, भक्ति करते हैं, शास्त्र पढ़ते हैं; वे सुखी हैं या दु:खी ?

बुधजनजी ने छहढाला में लिखा है –

''दु:ख तैं सुख, सुख तैं दु:ख होय। समता चारों गति नहिं जोय।।''

कुछ लोग इसका अर्थ ऐसा करते हैं कि 'दु:ख से सुख होता है और सुख से दु:ख होता है।' पर मेरा कहना है कि –

यहाँ 'तैं' का अर्थ यह नहीं है। तैं यह 'ढूँढारी' भाषा का शब्द है। पद्मपुराण में आता है कि 'दशरथ तैं राम, राम तैं लवकुश।'

यद्यपि कारण-कार्य संबंध के लिए भी 'तैं' शब्द का प्रयोग होता है; लेकिन यहाँ कारण-कार्य संबंध के अर्थ में 'तैं' का प्रयोग नहीं है।

यह तो संसार भावना है और इसमें यह कहा गया है कि जो जीव आज दु:खी हैं, वे कल सुखी हो सकते हैं और जो आज सुखी हैं, वे कल दु:खी हो सकते हैं; सांसारिक सुख-दु:ख तो इस संसार में लगा ही रहता है, अच्छे-बुरे दिन तो सभी के आते-जाते रहते हैं।

आज के जो रोड़पति हैं, वे कल कसेड़पति हो सकते हैं और आज जो करोड़पति हैं, वे कल रोड़पति हो सकते हैं और जो आज स्वस्थ हैं, वे कल बीमार हो सकते हैं तथा आज जो बीमार हैं, वे कल स्वस्थ हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि **यह वर्तमान पर्याय स्थिर नहीं है, बदलती रहती है।**

यहाँ कारण-कार्य संबंध के रूप में इसका अर्थ हो ही नहीं सकता है। क्या कभी ऐसा हो सकता है कि बबूल का बीज बोओ और आम का पेड़ उग जाय या आम का बीज बोओ और बबूल का पेड़ उग जाय? यदि यह सत्य है तो फिर सुख से दुःख और दुःख से सुख, ये अर्थ कैसे संभव है ? लेकिन बाप-दादाओं की परंपरा ऐसी ही चली आ रही है और वे कहते आ रहे हैं कि अभी दुःख भोगेंगे तो बाद में सुखी रहेंगे और अभी सुख भोगेंगे तो बाद में दुःखी हो जायेंगे।

यदि इस छन्द का ऐसा अर्थ हो तो क्या अरहंत भगवान और सिद्ध भगवान जो अभी सुख भोग रहे हैं, वे भविष्य में दुःखी हो जायेंगे ? और जो नारकी अभी दुःखी भोग रहे हैं, वे इसके कारण भविष्य में सुखी हो जायेंगे ? अरे भाई ! कारण-कार्य संबंध वाला अर्थ यहाँ कदापि नहीं है।

इसप्रकार सुख के संबंध में जगत में ऐसी गलत मान्यता है, लेकिन आत्मा में जो सुख गुण है, वह अनन्त आनन्दस्वरूप है। इसी सुख गुण की तरह आत्मा में अनन्त गुण हैं; इसलिए मात्र ज्ञानगुण आत्मा के समग्र स्वरूप को बताने में समर्थ नहीं है। आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से आत्मा के अनन्त गुणों की उपेक्षा होती है।

कोई व्यक्ति सेठ भी हो और विद्वान भी हो। उसके लिए ये सेठ साहब हैं, बहुत पैसेवाले हैं, बहुत दान देते हैं – ऐसा कहकर उनका एक स्वरूप प्रदर्शित किया। इसमें दूसरा स्वरूप, जो इससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण था, वह बिना कहे ही रह गया। दूसरे दिन दूसरे स्वरूप को कहा जाये कि ये बहुत अच्छे विद्वान हैं, बहुत अच्छा प्रवचन करते हैं; तो उन्हें आकुलता हो जाती है कि मुझे कोई अकेला पण्डित ही न समझ लें, मैं तो सेठ भी हूँ।

जिसप्रकार किसी व्यक्ति के दो गुणों में से एक गुण बताओ तो उसे बेचैनी हो जाती है। वह चाहता है कि मेरा दूसरा गुण भी साथ में

बताया जाये। उसीप्रकार **जिस आत्मा में अनन्त गुण हों, उसको मात्र एक गुण (ज्ञान मात्र) से कहना क्या उस ...ा अपमान नहीं है ?**

पूज्य गुरुदेवश्री भी कहते थे कि ज्ञानमात्र कहने से सम्पूर्ण आत्मा समझ में नहीं आता है। आत्मा तो अनन्त गुणों के परिणमनस्वरूप है, अनन्तगुणरूप है। मात्र एक ज्ञानगुण के कहने से सम्पूर्ण आत्मा समझ में नहीं आता।

आचार्य अमृतचन्द्र को भी **'ज्ञानमात्र में अनन्त गुण व्याप्त हैं'** – यह बात समझाने के लिए पूरा परिशिष्ट लिखना पड़ा। उन्होंने लिखा कि अभी तक हम आत्मा को ज्ञानमात्र कहते आये हैं, सो कोई आत्मा को ज्ञानमात्र ही न समझ ले; क्योंकि वह तो अनन्तगुणमय है। ज्ञानमात्र कहने से अनन्तगुणों का अखण्डपिण्ड भगवान आत्मा ही समझना चाहिए।

यह तो हमारी मजबूरी है कि अनंत गुणों के नाम एक साथ नहीं लिये जा सकते हैं; इसलिए उसे ज्ञानमात्र कहते हैं। अनन्तगुणों को एक साथ नहीं कह पाने के कारण मजबूरी में यह व्यवहार खड़ा है। **वास्तव में तो इस ज्ञान शब्द में अनन्त गुण व्याप्त हैं।**

सन् १९६०-६१ में मैंने एक दोहा लिखा था, जो कि इसप्रकार है–

ज्ञानमात्र इस शब्द में, हैं अनन्त गुण व्याप्त।
ज्ञायक भी कहते उसे, प्रकट पुकारा आप्त।।

भोपाल में झरने के मंदिर में बैठकर सुबह ६ बजे मैंने यह दोहा लिखा था। हमीदिया अस्पताल में ७ बजे मेरा 'अपैन्डिक्स्' का ऑपरेशन होना था तो ५ बजे मैं मंदिर चला गया और वहीं यह दोहा लिखा था, वहीं साथ में १०-२० दोहे और लिखे थे। वह कागज, जिस पर मैंने दोहे लिखे थे, किसी को दे दिया था; फिर मुझे वह आज तक नहीं मिला। लेकिन उनमें से दस-पाँच दोहे याद रह गए, उनमें से एक यह भी है।

इसका अर्थ इसप्रकार है कि **'ज्ञान' इस शब्द में अकेला ज्ञानगुण**

ही नहीं समझना। इस 'ज्ञान' शब्द में अनन्त गुण व्याप्त हैं तथा उसे 'ज्ञायक' भी कहते हैं, ऐसा आप्त अर्थात् सच्चे देव ने कहा है।

यहाँ ज्ञायक का अर्थ मात्र जाननेवाला मत समझना; क्योंकि ज्ञायक तो अनन्त गुणों के अखण्डपिण्ड का नाम है।

यदि ज्ञायक को मात्र जाननेवाला ही ग्रहण किया तो वह एक ज्ञानगुणवाला हो जायेगा और ज्ञानगुणवाला कहने से भेद खड़ा हो जायेगा तथा **भेद का नाम तो पर्याय है, वह पर्याय त्रिकाली ध्रुव में शामिल नहीं है।**

हर वस्तु स्वचतुष्टय से युक्त होती है, यह एक नियम है। वस्तु उसी का नाम है, जो स्वचतुष्टय से युक्त हो।

जिसप्रकार नागरिक शास्त्र में ऐसा कहा है कि देश उसे कहते हैं, जिसका एक निश्चित भू-भाग हो। उदाहरण के तौर पर – हिन्दुस्तान और पाकिस्तान, ये देश हैं और राजस्थान प्रान्त है, देश नहीं है।

लन्दन में एक सिक्ख रहता था, जो अपने आपको खालिस्तान का प्रधानमंत्री कहता था। उससे जब पूछा गया कि तुम्हारा खालिस्तान कहाँ है ? तो उसने कहा कि – हिन्दुस्तान में जो पंजाबी सूबा है, जिसको स्वतंत्र करने के लिए हम आन्दोलन कर रहे हैं, जब वह पंचाबी सूबा हिन्दुस्तान से अलग होगा, तब उसका नाम हम खालिस्तान रखेंगे और उसी खालिस्तान का मैं प्रधानमंत्री हूँ। इसप्रकार वह अपने आपको खालिस्तान का प्रधानमंत्री कहता था।

लेकिन दुनिया के किसी भी देश ने; न अमेरिका ने, न रूस ने और न ही चीन ने; उसे इसप्रकार की मान्यता दी कि वो खालिस्तान का प्रधानमंत्री है; क्योंकि उस 'खालिस्तान' नामक देश का पृथक् कोई निश्चित भू-भाग नहीं था और न वह व्यक्ति वहाँ रहता था। **देश तो उसे कहते हैं, जिसका एक निश्चित भू-भाग होता है।**

उसीप्रकार वस्तु भी उसे कहते हैं, जिसमें चार चीजे पाई जावें।

यदि चार चीजों में से एक भी खण्डित हो गई तो वह अवस्तु ही है और अवस्तु गधे के सींग के समान होती है। **वस्तु में पाई जानेवाली वे चार चीजे हैं – द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव।**

आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' में लिखा है –

सदैव सर्वं को नेच्छेत्, स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासात्, न चेन्न व्यवतिष्ठते।।

इस दुनिया में ऐसा कौन है, जो वस्तु को स्वरूप चतुष्टय की अपेक्षा सत् रूप में स्वीकार नहीं करेगा और ऐसा कौन है, जो वस्तु को परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप स्वीकार नहीं करेगा ? **यदि उसने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव – ये चार चीजें स्वीकार नहीं कीं तो वस्तु–व्यवस्था ही नहीं बनेगी।**

द्रव्य का अर्थ है वस्तु, क्षेत्र का अर्थ है प्रदेश, काल का अर्थ है पर्याय और भाव का अर्थ है गुण। **जिसमें द्रव्य, गुण, पर्याय और प्रदेश शामिल हों, उसका नाम ही वस्तु है।**

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने भी 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में लिखा है कि **अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न–भिन्न अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं।**[१] यहाँ अनादिनिधन कहकर काल की बात कही है।

जब दृष्टि के विषय में पर्याय का निषेध किया जाता है तो हम काल नामक विभाग का निषेध समझ लेते हैं; जबकि वस्तु के जो चार विभाग द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव हैं; उसमें जो काल नामक विभाग है, वह तो दृष्टि के विषय में शामिल है।

सबसे बड़ा खतरा यही है कि 'काल' विभाग को पर्याय समझ कर उसका निषेध कर दिया जाता है।

आचार्य समन्तभद्र ने यही कहा है कि काल के बिना अखण्ड वस्तु स्वीकार ही नहीं की जा सकती है। काल के बिना वस्तु तो गधे के सींग के समान है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ५२

इसीलिए मैंने समयसार की सातवीं गाथा के अनुशीलन में विस्तार से इसी बात को समझाने का प्रयास किया है।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में भी आचार्य अमृतचंद्रदेव ने लिखा है कि **न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेण खण्डयामि, न भावेण खण्डयामि** अर्थात् न तो मैं द्रव्य से खण्डित हूँ, न क्षेत्र से खण्डित हूँ, न काल से खण्डित हूँ, न भाव से खण्डित हूँ; मैं तो एक अखण्ड तत्त्व हूँ।

भारत को सन् १९४७ में आजादी मिली। यदि अंग्रेज यह कहते कि भारत को आजादी तो दे देते हैं, लेकिन दिल्ली हमारे कब्जे में रहेगी तो इसे कहा जायेगा कि भारत क्षेत्र से खण्डित हो गया।

यदि यह कहा जाये कि भारत को आजादी तो दे देते हैं; लेकिन दस साल के लिए ही आजादी मिलेगी। यदि दस साल में कोई अच्छा काम नहीं किया और कहीं गड़बड़ी हुई तो ग्यारहवें साल उसे हम छीन लेंगे तो ये आजादी काल से खण्डित हो गई।

आजादी उसका नाम नहीं है, जो क्षेत्र से खण्डित हो जाये या जो काल से खण्डित हो जाये।

वैसे ही यदि वस्तु में से काल नामक विभाग निकाल लिया जाये तो वह वस्तु काल से खण्डित हो जायेगी और फिर वह वस्तु ही नहीं रहेगी।

यहाँ दृष्टि के विषय में जो गड़बड़ी की आशंका है, वह यह है कि हमें ऐसा लगता है कि पर्याय के निषेध से काल की अखण्डता खण्डित हो रही है अर्थात् भगवान आत्मा काल से अखण्डित नहीं रह पा रहा है। इसीलिए मैं यहाँ इस बात का प्रतिपादन करने की कोशिश कर रहा हूँ कि **दृष्टि के विषय में पर्यायार्थिकनय की विषयभूत पर्याय नहीं होने पर भी वह वस्तु काल से अखण्डित ही है।**

नयचक्र में जो द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय का प्रकरण मैंने लिखा

है, उसमें प्रारंभ के ४-५ पृष्ठ हैं, उनमें इसका विस्तार से वर्णन है। इस बात को समझने के लिए उक्त प्रकरण का अध्ययन गहराई से किया जाना चाहिए।[१]

इसप्रकार जिसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव – ये चार चीजें हों, उसका नाम ही वस्तु है।

१. आत्मा एक वस्तु है, द्रव्य है। २. आत्मा का असंख्यात प्रदेशीपना उसका क्षेत्र है। असंख्यात प्रदेश क्षेत्र नहीं हैं; क्योंकि असंख्यात प्रदेश कहने से असंख्यात का भेद खड़ा हो जाता है, फिर वह एक आत्मा नहीं रहता है। **असंख्यात प्रदेशीपने या असंख्य के अभेद का नाम क्षेत्र है।**

इसीप्रकार ३. अनंत गुणों का अभेद, आत्मा का भाव है। ४. अनादि-अनंतता, आत्मा का काल है।

गुरुदेवश्री अपने प्रवचन में अनेकों बार 'त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा' कहते थे। वे १. 'त्रिकाली' कहकर काल की अखण्डता, २. असंख्यात प्रदेशी कहकर के क्षेत्र की अखण्डता, ३. अनन्तगुणों का अखण्डपिण्ड कहकर के गुणों की अखण्डता दर्शाते थे। ४. द्रव्यरूप से वस्तु तो अखण्ड है ही। इसप्रकार वे चारों विशेषणों का प्रयोग करते थे। वे सबकुछ भूल सकते थे; लेकिन वे 'त्रिकाली' शब्द अवश्य बोलते थे।

सिक्खों में दो सम्प्रदाय हैं – एक का नाम है **अकाली** और दूसरे का नाम है **निरहंकारी**। 'अकाल' का अर्थ है कि काल का धर्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसका नाम है अकाल अर्थात् हम काल से खण्डित होनेवाले नहीं हैं।

निरहंकारी का तात्पर्य यह है कि परद्रव्य में जो एकत्वबुद्धि का अहंकार है, उससे जो रहित हैं, वे निरहंकारी हैं। वे कहते हैं 'मैंने किया' – ऐसा अहंकार नहीं करना, भगवान ही सबकुछ कर्त्ता-धर्ता

---

१. परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ २०७ से

हैं, इसका नाम निरहंकार है। वे लोग जो आसमानी रंग की पगड़ी बाँधते हैं, वे निरहंकारी लोग हैं और शेष अकालीदल के लोग हैं।

ऐसे ही अपने यहाँ **'अकाल' का अर्थ काल से रहित नहीं है, अकाल का अर्थ है काल की अखण्डता।** 'अकाल' में जो 'अ' है, वह काल का निषेध करनेवाला नहीं है, अपितु **काल के भेद का निषेध करनेवाला है।**

हमारा भगवान आत्मा काल से खण्डित नहीं होता है, क्षेत्र से खण्डित नहीं होता है, भाव से खण्डित नहीं होता है; वह तो अखण्ड द्रव्य है।

अकाल में काल-भेद के निषेध के लिए **'अ'** शब्द है। इसीप्रकार द्रव्य-भेद के निषेध के लिए **अद्रव्य,** गुण-भेद के निषेध के लिए **अगुण** शब्द कहे जा सकते हैं।

कबीर का एक पंथ है – निर्गुण पंथ! वहाँ निर्गुण का अर्थ यह नहीं है कि वे भगवान को गुणों से रहित मानते हैं। वहाँ भी 'निर्गुण' शब्द गुण-भेद के निषेध के लिए आया है। वे तो कहते हैं कि भगवान निराकार है, निरहंकार है, अभेद हैं, सर्व में अर्थात् कण-कण में, जन-जन में व्याप्त हैं। वे यही कहते हैं कि 'सियाराममय सब जग जानी' सम्पूर्ण जगत सीता और राममय है।

इसप्रकार वस्तु काल से खण्डित नहीं होनी चाहिए अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव – ये चार चीजें जिसमें हों, उसी का नाम वस्तु है तथा **वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है, भेदाभेदात्मक है, नित्यानित्यात्मक है, एकानेकात्मक है।**

वस्तु, द्रव्य की अपेक्षा सामान्यविशेषात्मक है, काल की अपेक्षा नित्यानित्यात्मक है, भाव की अपेक्षा एकानेकात्मक है तथा क्षेत्र की अपेक्षा भेदाभेदात्मक है। इसप्रकार एक-एक के दो-दो भेद हैं।

१. वस्तु, द्रव्य की अपेक्षा सामान्य भी है और विशेष भी है।

२. वस्तु, काल की अपेक्षा नित्य भी है और अनित्य भी है। ३. वस्तु, क्षेत्र की अपेक्षा भेद भी है और अभेद भी है तथा ४. वस्तु, भाव की अपेक्षा एक भी है और अनेक भी है।

इसप्रकार वस्तु की ये आठ विशेषताएँ हैं अर्थात् वस्तु एक भी है, अनेक भी है, नित्य भी है, अनित्य भी है, भेद भी है, अभेद भी है, समान्य भी है और विशेष भी है।

इसप्रकार यह वस्तु प्रमाण की वस्तु है। **इसमें से सामान्य, अभेद, नित्य और एक – ये द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं** और विशेष, भेद, अनित्य और अनेक – ये पर्यायार्थिकनय के विषय हैं।

इसलिए सामान्य, अभेद, नित्य और एक – इनकी **द्रव्य संज्ञा** है और विशेष, भेद, अनित्य और अनेक – **इनकी पर्याय संज्ञा** है।

ये विशेष, भेद, अनित्य और अनेक – चारों ही दृष्टि के विषय में शामिल नहीं हैं।

सामान्य, अभेद, नित्य और एक – ये द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं। वस्तु तो एक है; लेकिन उसकी ये चार विशेषताएँ हैं। ये चार होने से भेद हो गया; इसलिए ये 'चारपना' तो पर्यायार्थिकनय का विषय है।

इन चारों का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है, वही दृष्टि का विषय है और उसमें उपरोक्त पर्याय शामिल नहीं है।

इस दृष्टि के विषय में वे पर्यायार्थिकनय की विषयवस्तु के वे चार अंश शामिल नहीं हैं, जिनकी पर्याय संज्ञा है तथा **वे चार अंश शामिल हैं, जिनकी द्रव्य संज्ञा है; परन्तु उनका भी भेद दृष्टि के विषय में शामिल नहीं है। इसी का नाम है – पर्याय से रहित दृष्टि का विषय।** ●

पर के कल्याण के विकल्प में अधिक उलझना अच्छी बात नहीं है। मूल बात तो अपने स्वयं के कल्याण करने की ही है।

– पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ–८८

तीसरा प्रवचन

समयसार परमागम की छठवीं-सातवीं गाथा की विषय-वस्तु पर चर्चा चल रही है। दृष्टि के विषय में जो पर्याय शामिल नहीं है,, उस पर्याय शब्द का वास्तविक अर्थ हम पूर्व में जान चुके हैं कि **पर्यायार्थिकनय का विषय; भेद, विशेष, अनित्य और अनेक हैं। और इन चारों की ही पर्याय संज्ञा है।**

यह तो पहले ही कह चुके हैं कि **सामान्य, एक, अभेद और नित्य – यह दृष्टि का विषय है और विशेष, भेद, अनेक और अनित्य – ये चारों पर्याय होने से दृष्टि के विषय में शामिल नहीं है।**

यहाँ प्रश्न यह है कि यहाँ दृष्टि के विषय में विशेष को पर्याय कहकर शामिल नहीं किया; जबकि ७३वीं गाथा में सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य को दृष्टि का विषय बताया है।

इसका उत्तर इसप्रकार है कि ७३वीं गाथा में **सामान्य का अर्थ दर्शन गुण एवं विशेष का अर्थ ज्ञानगुण लिया है।**

यद्यपि ज्ञान और दर्शनगुण बिल्कुल एक से हैं, बराबरी की हैसियत के हैं, दोनों का उल्लेख भी एक साथ ही मिलता है; तथापि दर्शनगुण को सामान्य कहा जाता है और ज्ञानगुण को विशेष।

अतः वहाँ **सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य का अर्थ ज्ञान-दर्शन स्वभावी भगवान आत्मा ही है।**

यहाँ जिस सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य को दृष्टि का विषय कहा है, वह सामान्य-विशेषात्मक न तो 'परीक्षामुख' में समागत सामान्य-विशेष है और न द्रव्य का सामान्य-विशेषात्मक अंश वाला (द्रव्यांश वाला) सामान्य-विशेषात्मक है। **यहाँ दर्शन गुण के अर्थ में सामान्य और ज्ञान गुण के अर्थ में विशेष शब्द का प्रयोग किया है।**

इसप्रकार सामान्य-विशेष को भी विभिन्न अपेक्षाओं से कहा जाता

है। यदि हम वे सारी अपेक्षाएँ नहीं समझेंगे, तो कहीं भी भ्रमित होना संभव है।

जिसप्रकार चालक तेज गति से वाहन चला रहा हो और एकाएक सामने कुछ आ जाय, तो चालक अवरोधक (ब्रेक) का प्रयोग करता है, तब चालक तो अपने आपको सँभाल लेता है; किन्तु पीछे जो मालिक बैठे होते हैं, वे अपने आपको नहीं सँभाल पाते।

यदि वह चालक अवरोधक (ब्रेक) का प्रयोग नहीं करता तो क्या होता ? इसकी कल्पना की जा सकती है। एक बहुत बड़ी दुर्घटना हो सकती थी।

इस कारण यदि वे मालिक सोचे कि वाहन में से अवरोधक (ब्रेक) ही निकलवा देते हैं, जिससे न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी; परन्तु उन्हें यह पता नहीं है कि अवरोधक (ब्रेक) के बिना वाहन की क्या हालत होगी?

अवरोधक (ब्रेक) के समान ही जैनदर्शन में अपेक्षायें हैं।

जिसप्रकार तेज गति के वाहन में से ब्रेक नहीं निकाला जा सकता; उसीप्रकार जैनदर्शन के प्रतिपादन में से अपेक्षाओं को निकालना संभव नहीं है।

जो यह कहते हैं कि अपेक्षा से बात ढीली हो जाती है; अतः अपेक्षा ही समाप्त कर दो। तो उनका अपेक्षा को खत्म करने का निर्णय वाहन में से अवरोधक (ब्रेक) को निकालने के समान है।

जिसप्रकार बिना ब्रेक के किसी वाहन की कल्पना नहीं की जा सकती है; उसीप्रकार बिना अपेक्षा के वस्तुस्वरूप समझना संभव नहीं है।

अरे भाई ! जो अन्दर में निरपेक्ष तत्त्व है, उसे अपेक्षाओं से ही समझा जा सकता है। निरपेक्ष का अर्थ है कि जिन अपेक्षाओं से उस तत्त्व को समझाया जाता है, वह तत्त्व उन अपेक्षाओं से भी निरपेक्ष है, रहित है।

इसे हम इस तरह समझ सकते हैं कि जैसे हम किसी से कहें कि

बुढ़ापे में किसी से कुछ अपेक्षा (आशा, भरोसा) मत रखना; इसलिए अपनी गाँठ में कुछ बचाकर रखना। यदि बुढ़ापे में बेटों से कुछ अपेक्षा रखोगे, तो बहुत तकलीफ पाओगे।

इस पर वह कहे कि नहीं, नहीं; मेरे बेटे तो बहुत अच्छे हैं।

अरे भाई! आपके बेटे के अच्छे होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि वे बेटे यह जानते हैं कि पिताजी के पास तो सब व्यवस्था है, उनके पास तो मरने के बाद तक की व्यवस्था है और मरने के बाद जो बचा रहेगा, वह हमारे लिए ही तो छोड़ जाएँगे।

इसलिए ही हम कहते हैं कि अपेक्षा नहीं रखना, अपेक्षा रखोगे तो पराधीन हो जाओगे।

अरे भाई ! **अपेक्षा वस्तु में नहीं लगानी है; उसे समझने में लगानी है।** यह तो हमारे ज्ञान और भाषा की कमजोरी है कि अपेक्षा के बिना समझ नहीं पाते हैं।

केवलज्ञानी को सम्पूर्ण ज्ञान होने से अपेक्षा की जरूरत ही नहीं है।

ये अपेक्षायें तो श्रुतज्ञान में लगती हैं, नयों में लगती हैं। इन अपेक्षाओं का निषेध भी नहीं किया जा सकता है; क्योंकि अपेक्षाओं से इंकार करने का तात्पर्य नयों से ही इंकार करना है।

वस्तुस्थिति यह है कि **वस्तु तो पूर्णत: निरपेक्ष है, एक वस्तु दूसरी वस्तु के आधीन नहीं है; किन्तु वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन सापेक्ष होता है। हमारी परेशानी यह है कि जब हम प्रतिपादन में अपेक्षा की अनिवार्यता बतलाते हैं तो यह वस्तु को सापेक्ष (पराधीन) मान लेता है तथा जब हम वस्तु को पूर्ण स्वाधीन (निरपेक्ष) समझाते हैं तो अज्ञानीजन प्रतिपादन को निरपेक्ष मान लेते हैं।**

'वाणी सापेक्ष और वस्तु निरपेक्ष' – वस्तुस्थिति यह है।

ये नय मात्र जैनदर्शन में ही हैं, अन्य किसी भी दर्शन में नय नहीं हैं।

विश्वविद्यालयों में जो न्याय-शास्त्र पढ़ाया जाता है, उसको प्रमाण और प्रमेय – इन दो भागों में बाँटकर पढ़ाया जाता है।

न्यायदीपिका और परीक्षामुख – ये दोनों न्याय के ग्रन्थ हैं। इन्हें न्याय के ग्रन्थ इसलिए कहते हैं; क्योंकि इनमें न्याय अर्थात् नय और प्रमाण के स्वरूप पर विचार किया जाता है।

यद्यपि द्रव्यसंग्रह में भी नय और प्रमाण का वर्णन है; लेकिन उनमें वस्तु का स्वरूप नय और प्रमाण से स्पष्ट किया है; इसलिए **द्रव्यसंग्रह वस्तुव्यवस्था का ग्रन्थ है, न्याय का ग्रन्थ नहीं है। नय लगाने से कोई ग्रन्थ न्याय का ग्रन्थ नहीं हो जाता।**

जिन ग्रन्थों में प्रमाण और नय का स्वरूप समझाया जाय, उन ग्रन्थों का नाम है – न्याय के ग्रन्थ। जैसे – प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमेयरत्नमाला आदि। आप्त परीक्षा व आप्तमीमांसा न्याय के ग्रन्थ नहीं हैं; क्योंकि इसमें आप्त के स्वरूप पर विचार किया है।

यद्यपि विचार करते समय अनेक ग्रंथों में नय और प्रमाण का वर्णन आया है; लेकिन ये न्याय के ग्रन्थ नहीं हैं। जैसे – मोक्षमार्गप्रकाशक में मोक्ष का मार्ग बताया है तथा विषय-वर्णन के मध्य में नय भी बता दिए हैं तो वह भी न्याय का ग्रन्थ नहीं हो गया। अतएव आप्तपरीक्षा, आप्त मीमांसा एवं मोक्षमार्गप्रकाशक न्याय के ग्रन्थ नहीं हैं। 'नयचक्र' नामक ग्रन्थ ही नय का ग्रन्थ है; क्योंकि उसमें नयों के स्वरूप का वर्णन है।

माइल्लधवल आचार्य ने जो नयचक्र लिखा है, उसमें १२ अध्याय हैं और मात्र एक अध्याय में नयों का वर्णन है, शेष ११ अध्याय में वस्तु के स्वरूप का वर्णन है। उसमें द्रव्य-अधिकार, गुण-अधिकार और पर्याय-अधिकार हैं। ये द्रव्य-गुण-पर्याय तो वस्तु का स्वरूप हैं; अतएव वास्तव में तो वह नयचक्र है ही नहीं। ४००-५०० गाथाओं में से मात्र १०० गाथाएँ नयों पर हैं, शेष गाथाएँ तो नयों पर है ही नहीं। उसका वास्तविक नाम तो **द्रव्य-स्वभाव प्रकाशक** है अर्थात् द्रव्य के स्वभाव का प्रकाश करनेवाला; किन्तु वह द्रव्यस्वभाव का प्रकाश नयों से होता है; इसलिए उसमें बाद में **नयचक्र** भी जोड़ दिया।

इसप्रकार **जिनमें प्रमाण और नयों का विस्तार से विवेचन हो, उन्हें**

न्याय के ग्रन्थ कहते हैं। जैनाजैन दर्शनों में प्रमाणमीमांसा के ग्रन्थ होते हैं। उनमें सब दर्शनों पर बहस होती है।

कोई धर्म एक प्रमाण मानता है, कोई दो और कोई तीन। इनमें –

१. चार्वाक मत एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है।

२. बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान – ये दो प्रमाण मानते हैं।

३. नैयायिक तीन प्रमाण मानते हैं।

४. वैशेषिक चार प्रमाण मानते हैं।

५. प्रभाकर पाँच प्रमाण मानते हैं।

६. भाट्ट छह प्रमाण मानते हैं।

'अष्टसहस्री' जैसे ग्रन्थों में बहुत गहराई से इस विषय पर मीमांसा की गई है कि अकेला प्रत्यक्ष प्रमाण मानने पर क्या दोष है? और अन्य प्रमाणों के नहीं मानने पर क्या दोष है? उसमें कहा है –

यदि मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं अर्थात् हमें जो आँख से दिखता है, वही प्रमाण है, शेष प्रमाण नहीं है तो फिर हम हमारी आँखों के सामने उपस्थित पदार्थ को ही प्रामाणिक मान पाएँगे, शेष पदार्थों को नहीं? फिर तो हम यह भी नहीं कह सकते कि हमारे बाप-दादाओं के दादा वगैरह रहे होंगे; क्योंकि हमने उन्हें अनुमान से ही जाना है, प्रत्यक्ष तो उन्हें कभी देखा नहीं।

हमारी सात पीढ़ी के पूर्वजों को हम **अन्यथा-अनुपपत्ति नाम के अनुमान से जानते हैं।** अन्यथा-अनुपपत्ति यह है कि यह नहीं होता तो वह भी नहीं होता।

जिसप्रकार यदि मेरे पिताजी नहीं होते तो मैं भी नहीं होता।

यदि पिताजी के पिताजी नहीं होते तो मेरे पिताजी भी नहीं होते। इसप्रकार इस **अन्यथानुपपक्षित्त नाम के अनुमान से ही हम अपने पूर्वजों को मानते हैं।**

भगवान महावीर स्वामी के काल में २६०० वर्ष पहले भी हमारे

पूर्वज रहे होंगे; क्योंकि यदि उस समय हमारे पूर्वज नहीं रहे होते तो आज हम भी नहीं होते। **यह अन्वथानुपपत्ति नाम का अनुमान है।**

बौद्ध, प्रत्यक्ष और अनुमान – इसप्रकार दो ही प्रमाण मानते हैं।

नैयायिक अर्थापत्ति को प्रमाण मानते हैं। अर्थापत्ति का तात्पर्य है कि यदि यह नहीं होगा तो काम नहीं होगा अर्थात् अर्थ में आपत्ति आ जाएगी। जैसे – **उपरि वृष्टिरासीत्, अधोपूररन्यथानुपपत्ते**: अर्थात् ऊपर बरसात हुई है, अन्यथा नीचे बाढ़ नहीं आ सकती थी। गाँव में तो सूखा पड़ रहा है और नदी में बाढ़ आ रही है।

ऐसा हो सकता है कि गाँव में लोग पानी के लिए तरसते हों, कुओं में पानी नहीं हो, भयंकर गर्मी हो रही हो और उसी गाँव के बगल से जो नदी निकल रही हो, उसमें बाढ़ आ जाय अर्थात् एक ही गाँव में भयंकर सूखा और बाढ़ की मार, दोनों एक साथ हो सकते हैं।

जैसे – कानपुर में बिल्कुल सूखा पड़ रहा हो अर्थात् वहाँ एक बूँद भी पानी नहीं बरसा हो और गंगा नदी हिमालय से निकलकर हरिद्वार पहुँची व हरिद्वार में भयंकर बरसात हुई, वह गंगा हरिद्वार से जाकर कानपुर पहुँची तो कानपुर में बाढ़ आ जाएगी, जबकि कानपुर में एक बूँद भी पानी नहीं है।

''ऊपर बरसात हुई है, अन्यथा नीचे 'पूर' नहीं आ सकता है'' अर्थात् **यह हुआ है, अन्यथा वह नहीं हो सकता है – इसी का नाम है अर्थापत्ति।**

इसप्रकार अष्टसहस्री में अनेक पृष्ठों में जो मीमांसा हुई है, वह प्रमाणमीमांसा है, नयमीमांसा नहीं है; क्योंकि **अन्य धर्मवाले नय मानते ही नहीं हैं, मात्र जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो नयों को मानता है।**

इसप्रकार भारतीय दर्शनों में छह प्रमाण माने जाते हैं, उनके नाम हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति, उपमान, आगम और अभाव।

ये छह प्रमाण तो अन्य दर्शनों के हैं; जैनियों के छह प्रमाण इसप्रकार हैं – प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

इनमें अर्थापत्ति को अनुमान में और उपमान को सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में, अभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण में शामिल कर लिया है।

नय को आगम प्रमाण में शामिल किया है; क्योंकि नय श्रुतज्ञान में आते हैं और आगम भी श्रुतज्ञान का भेद। इसप्रकार आगम प्रमाण में नय सम्मिलित हैं।

जैनदर्शन में एक पंक्ति ऐसी नहीं है, जो बिना नयों के अर्थात् बिना अपेक्षा के लिखी हो।[१]

अब यदि कोई कहे कि हमने तो ऐसी सैकड़ों पंक्तियाँ देखी हैं, जिनमें अपेक्षा नहीं लगी है ?

इस पर आचार्य समंतभद्र कहते हैं कि हम स्याद्वादी हैं। हम अपेक्षा लगाए तो भी अपेक्षा लगी है और हम अपेक्षा नहीं लगाएँ, तब भी अपेक्षा लगी है। हमारे सभी कथन अपेक्षा से ही हैं।

अरे भाई ! स्याद्वादियों को सभी जगह अपेक्षा लगाने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उनके यहाँ तो अपेक्षा के बिना कोई बात होती ही नहीं है।

अतः जहाँ अपेक्षा न लगी हो, वहाँ भी वह कथन सापेक्ष ही है – यही समझना चाहिए।

विशेष, दृष्टि के विषय में शामिल हैं तो वह भी अपेक्षा से है और शामिल नहीं है तो वह भी अपेक्षा से ही नहीं है।

यदि हम आचार्य समंतभद्र के शिष्य हैं तो हम कितना भी कहें कि हम अपेक्षा को नहीं मानते, पर उससे कुछ होने वाला नहीं है।

अरे भाई ! हमें अपेक्षा को छोड़ने के लिए जैनधर्म को छोड़ना होगा, जैनधर्म को तिलांजलि देनी पड़ेगी।

---

१. णत्थि णएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो व्व जिनवरमदम्हि।
तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति।।
– धवला, पु.१, खण्ड १, भाग १, गाथा ६८
(जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ ५१८)

जो-जो भारत में रहते हैं, वे सभी भारतीय हैं। अब यदि कोई कहे कि नहीं-नहीं, हम तो गुजराती हैं। वह व्यक्ति कितना भी कहे; लेकिन वह भारतीय ही रहेगा; क्योंकि गुजराती नाम की नागरिकता इस दुनिया में है ही नहीं, गुजरात नाम का देश है ही नहीं। गुजरात तो प्रदेश है और प्रदेशों की नागरिकता नहीं होती है। वह अपने को भारतीय माने तो भारतीय हैं और यदि भारतीय नहीं माने, तब भी भारतीय हैं।

वैसे ही जैनधर्म मानने वालों के यहाँ अपेक्षा लगी ही रहती है, वे अपेक्षा लगाएँ, तब भी और अपेक्षा नहीं लगाएँ, तब भी।

हम मनुष्य हैं भी और हम मनुष्य नहीं भी हैं; क्योंकि मनुष्यगति की अपेक्षा हम मनुष्य हैं और 'द्रव्यदृष्टि' की अपेक्षा 'मनुष्य नहीं हैं' - शास्त्रों में यह भी लिखा मिलता है; अतएव मनुष्य नहीं भी हैं।

'हम पुरुष हैं' यह अपेक्षा भी जिनवाणी में है और 'हम आत्मा हैं', यह अपेक्षा भी जिनवाणी में ही है, ये सभी कथन सापेक्ष सत्य हैं और निरपेक्ष हों तो सत्य नहीं हैं, मिथ्या हैं।

न मैं स्त्री हूँ, न मैं पुरुष हूँ, न मैं नपुंसक हूँ, न मैं मनुष्य हूँ, न मैं देव हूँ, न मैं नारकी हूँ - ये सभी कथन द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा सत्य हैं।

'मैं मनुष्य हूँ' यह गति की अपेक्षा सत्य है, 'मैं पुरुष हूँ' यह लिंग की अपेक्षा सत्य है। अब यदि जैन मतावलम्बी ऐसा कहें कि 'मैं पुरुष हूँ और मैं पुरुष नहीं हूँ' यद्यपि इनमें अपेक्षा प्रकट नहीं है, तथापि इनमें अपेक्षा लगी हुई है।

आचार्य अमृतचन्द्र भी कहते हैं कि 'मैं आचार्य नहीं हूँ' और स्वयं अपने को लिखते हैं - 'आचार्य अमृतचन्द्र'। उन्हें 'आचार्य अमृतचन्द्र' जो कहा जा रहा है, वह दूसरी अपेक्षा है और जिस समय वे ये कह रहे हैं कि 'मैं आचार्य नहीं हूँ', वह दूसरी अपेक्षा है। इन अपेक्षाओं के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता है।

इसीप्रकार ७३वीं गाथा की टीका में सामान्य-विशेषात्मक को

दृष्टि का विषय कहा है। वहाँ सामान्य-विशेष की अपेक्षा पृथक् है। वहाँ सामान्य का अर्थ दर्शन है और विशेष का अर्थ है ज्ञान।

प्रश्न – द्रव्य शब्द का प्रयोग तो अनेक अर्थों में होता है। उनमें दृष्टि का विषय कौन-सा द्रव्य है ?

उत्तर – प्रत्येक वस्तु – द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमय होती है। वस्तु के इन चार पक्षों में द्रव्य भी एक पक्ष है, जो सामान्य-विशेषात्मक होता है। इसप्रकार वस्तु के सामान्य-विशेषात्मक पक्ष को भी द्रव्य कहते हैं और मूल वस्तु को भी द्रव्य कहते हैं। ये दोनों ही द्रव्य द्रव्यदृष्टि के विषय नहीं बनते हैं।[१]

इसप्रकार **एक द्रव्य** तो छह द्रव्यों वाला द्रव्य है।

दूसरा – वस्तु के सामान्य-विशेषादि चार पक्षों में से सामान्य-विशेष के सम्मिलितरूप को भी द्रव्य कहते हैं।

तीसरा – सामान्य, अभेद, नित्य और एक – इन चारों के सम्मिलित रूप का नाम द्रव्य है।

इसप्रकार इन सभी का नाम द्रव्य है; किन्तु दृष्टि का विषय तीसरे अर्थ वाला द्रव्य है; प्रथम व दूसरे वाला नहीं।

रुपया-पैसा को भी द्रव्य कहा जाता है, आजकल तो रुपया-पैसा वाले द्रव्य पर ही लोगों की दृष्टि है। जब मैं प्रवचन में बढ़िया-बढ़िया बातें कहता हूँ तो कोई ताली नहीं बजाता; जबकि किसी के पैसा दान करने की घोषणा की जाती है तो तत्काल तालियाँ बज उठती हैं। ऐसा इसलिए होता है; क्योंकि सभी श्रोता द्रव्यदृष्टि यानि कि पैसे की महिमावाले हैं और उनके चित्त में उस रुपये-पैसे नामक द्रव्य की इतनी महिमा है कि वे उसका नाम सुनते ही तालियाँ बजाने लगते हैं।

आजकल टी.वी. पर 'कौन बनेगा करोड़पति' कार्यक्रम देखकर

१. समयसार अनुशीलन भाग-१, पृष्ठ ७९

सारी दुनिया दीवानी हो रही है। हमारे जैनभाई लोग भी पर्यूषणपर्व में 'कौन बनेगा गुणाधिपति', 'कौन बनेगा धर्माधिपति', 'कौन बनेगा पूजाधिपति' नामक कार्यक्रम कराने लग गए हैं। ये सब उसी कार्यक्रम की ही तो नकल हैं।

कार्यक्रम में दस-पाँच प्रश्न पूछकर उसे मोक्षाधिपति बना देते हैं और वह मोक्षाधिपति इनाम देने वाले के पैर छूता है। अरे भाई ! क्या मोक्षाधिपति भी किसी के पैर छूता है ? ये सब नकल का ही परिणाम है।

'कौन बनेगा करोड़पति' नाम सुनकर जैसी अन्दर में आनन्द की कणिका उत्पन्न होती है; वैसी आनन्द की कणिका जब आत्मा का नाम सुनकर पैदा होगी, तभी सम्यग्दर्शन की पात्रता उत्पन्न होगी।

आजकल टी.वी. को देखकर निरन्तर हम भी बदलते जा रहे हैं।

पूजा-पाठ आदि में पिछले दस सालों में बहुत-सी अनावश्यक क्रियाएँ होने लगी हैं। जैसे - प्रतीक चढ़ाना! आठ द्रव्यों में प्रतीक का कहीं नाम ही नहीं है। ये सब क्रियाएँ तो अभी शुरू हुई हैं और आगे चलकर लोग इन्हें अनादि कहने लगेंगे।

आजकल तो मन्दिर भी चढ़ाने लगे हैं, भगवान की मूर्ति भी चढ़ा देते हैं। धीरे-धीरे कालान्तर में इनके भी अष्टक बन जाएँगे और आठ द्रव्य की जगह नौ द्रव्य हो जाएँगे। 'प्रतीकं निर्वपामीति स्वाहा' ऐसा भी कहा जाने लगेगा। ये सब मात्र पैसे के लिए ही तो हो रहा है।

आजकल हर चीज को रुपया-पैसा नामक द्रव्य से ही जोड़ा जाने लगा है; क्योंकि लोगों की दृष्टि इसी द्रव्य पर निरन्तर रहती है।

ऐसा ही हमारे देश के साथ हुआ है, भारत देश जब १९४७ में स्वतंत्र हुआ था; तब सर्वप्रथम यह कहा गया था कि देश में शराबबन्दी होनी चाहिए। उसके उत्तर में कहा गया था कि शराब को यदि एकदम बन्द कर देंगे तो जिन लोगों को शराब पीने की आदत है, वे तो बिना शराब के बेहोश हो जाएँगे; इसलिए इस शराब को बन्द करने के लिए

इस पर भारी कर (टैक्स) लगाते हैं, उससे जो पैसा आएगा, वह शराब नहीं पीनेवालों के काम आएगा। शराब पर जब भारी कर लगेगा तो लोग अपने आप ही शराब पीना छोड़ देंगे। यदि शराब की एक बोतल की कीमत एक रुपए है तो उस पर दस रुपए कर लगाकर उसे ग्यारह रुपए में बेचेंगे तो जो दस रुपए की आय होगी, उसे देश के विकास में लगाएँगे। इसप्रकार जब-जब भी शराबबन्दी की बात आई, तब-तब शराब पर कर बढ़ता गया और वह पाँच रुपए की शराब की बोतल २०० रुपए की हो गई।

किन्तु शराब का पीना लोगों ने नहीं छोड़ा, बल्कि घर-घर में शराब पी जाने लगी और सभी लोग शराबी हो गए। स्वतंत्रता के ५० वर्षों बाद, फिर ये कहा गया कि शराबबन्दी लागू करो तो देखा कि सरकार की साठ प्रतिशत आय तो उसी से है। यदि शराबबन्दी कर देंगे तो सरकार फैल हो जाएगी। शराब बेचने वाले बड़े-बड़े उद्योगपति बन गए हैं। उनमें करोड़ों रुपया चन्दा देने की ताकत खड़ी हो गई है। वे उद्योगपति प्रत्येक मंत्री को जिताने के लिए जीप-गाड़ियाँ दौड़ाते हैं। उनके पैसों से जीते नेता लोग शराब बन्द कैसे कर सकते हैं ?

अब शराबबन्दी करने से न केवल सरकार का बजट गड़बड़ा जायेगा; अपितु नेताओं के आर्थिक स्रोत भी छिन्न-भिन्न हो जावेंगे।

इसप्रकार जिस चीज को आय से जोड़ दिया जाता है, उसे हटाना बहुत मुश्किल है। उसीप्रकार प्रतीक नहीं चढ़ाएँगे तो पैसा कहाँ से आएगा? प्रतीक की ही भाँति आजकल हजारों खोटी प्रवृत्तियाँ पैदा हो गई हैं।

जैसे – विधानों में भगवान की माता का दरबार लगना, इन्द्रसभा, राजसभा का होना, विधानों में पालना झूलन का होना, भगवान का झूला होना। इसप्रकार हमारी आँखों के सामने ही बहुत सी खोटी प्रवृत्तियाँ पैदा हो गई हैं और होती जा रही हैं।

इसप्रकार इन २००० वर्षों में आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर आजतक

न मालूम कितनी विकृतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। **मन्दिर में भगवान के सामने नाचना, उछलना – ये भी धर्म में सम्मिलित हो गया है।** इन विकृतियों के उत्पन्न होने का एक प्रमुख कारण विद्वानों के गले का अच्छा होना है। यदि अच्छा गला नहीं होता तो ये विकृतियाँ भी नहीं होतीं।

हमारे टोडरमल महाविद्यालय में जितने भी विद्यार्थी हैं, उनमें जिन विद्यार्थियों के गले अच्छे हैं, उनमें से अधिकांश को गहरा तत्त्वज्ञान नहीं है। जिन विद्यार्थियों के गले अच्छे नहीं है, वे लगभग सभी उच्चकोटि के विद्वान हैं। इसप्रकार जिन विद्यार्थियों का गला अच्छा होता है, वे अपना समय विधान आदि में व्यतीत करते हैं और अध्ययन में उपयोग को पूर्णतः नहीं लगा पाते हैं।

इसप्रकार जो अनेक विकृतियाँ पैदा हुई हैं, वे सब रुपए-पैसे के कारण ही उत्पन्न हुई हैं; क्योंकि लोगों की दृष्टि रुपए-पैसे नामक द्रव्य पर ही है। उनकी दृष्टि उस वास्तविक आत्मद्रव्य पर नहीं है, जिस पर दृष्टि करने से हमारा कल्याण होगा।

प्रत्येक वस्तु, द्रव्य-क्षेत्र-काल व भावमय होती है। वस्तु के इन चार पक्षों में द्रव्य भी एक पक्ष है, जो कि सामान्य-विशेषात्मक होता है। इस सामान्य-विशेषात्मक पक्ष को भी द्रव्य कहते हैं और मूलवस्तु को भी द्रव्य कहते हैं।

मूलवस्तु से तात्पर्य यह है, जिसमें सामान्य-विशेष, एकानेक, नित्यानित्य और भेदाभेद ये आठ चीजें शामिल हैं।

तीसरा द्रव्य – सामान्य, एक, नित्य और अभेद – इन चारों के समूह का नाम है; यही तीसरा द्रव्य द्रव्यदृष्टि का विषय है और इसमें पर्याय शामिल नहीं है।

यह एक ऐसा विषय है, जिसे आज तक समझने की कोशिश ही नहीं की गई। ऐसा नहीं है कि यह मैं अभी कह रहा हूँ या लिख रहा हूँ; अपितु इसी विषय को वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीय के रूप में

१९९१ में लिख चुका हूँ। यह विषय-वस्तु सभी के पास पिछले अनेक वर्षों से विद्यमान है, फिर भी ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है, जो इसे नहीं समझते हैं। इसे नयचक्र में 'द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय' वाले प्रकरण के अन्तर्गत भी लिखा जा चुका है।

आज कोई इस विषय को पढ़ना ही नहीं चाहता है, यदि यह कह दो कि यह विषय नयचक्र में लिखा है तो लोग नयचक्र की ही छुट्टी कर देना चाहते हैं। कहते हैं कि उसे पढ़ने की जरूरत नहीं है।

कोई अपेक्षा की छुट्टी कर देते हैं।

कोई न्याय-व्याकरण पढ़ना पसन्द ही नहीं करते हैं।

जबकि इस अपेक्षा के बिना, नयों के बिना तो वस्तु का स्वरूप समझा ही नहीं जा सकता है।

इसी संबंध में 'समयसार अनुशीलन' का निम्न कथन दृष्टव्य है -

"इसप्रकार वस्तु के **१. सामान्य-विशेष** - ये दो रूप द्रव्य की अपेक्षा हैं। **२. भेद और अभेद** - ये दो रूप क्षेत्र की अपेक्षा हैं। **३. नित्य और अनित्य** - ये दो रूप काल की अपेक्षा हैं। **४. एक और अनेक** - ये दो रूप भाव की अपेक्षा हैं।

जिसप्रकार १. गुणों का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है और गुणभेद पर्यायार्थिकनय का। २. प्रदेशों का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है। प्रदेशभेद पर्यायार्थिकनय का, ३. द्रव्य का अभेद (सामान्य) द्रव्यार्थिकनय का विषय है और द्रव्यभेद (विशेष) पर्यायार्थिकनय का। उसीप्रकार ४. काल (पदार्थों) का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है और कालभेद (पर्यायें) पर्यायार्थिकनय का विषय बनता है।

यहाँ जो-जो पर्यायार्थिकनय के विषय हैं, उन सभी की पर्याय संज्ञा है और जो-जो द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं, उन सभी की द्रव्य संज्ञा है।[१]"

१. समयसार अनुशीलन भाग-१, पृष्ठ ७९

लोग कहते हैं कि जैसे गुण-भेद को निकाल दिया है और गुणों को रख लिया है, वैसे ही पर्यायों का भेद निकाल दो और पर्याय को रख लो। तो मैं कहता हूँ कि अरे भाई! **उस पर्याय का मूल नाम काल है। उस काल के भेद को ही दृष्टि के विषय में से निकाला है और काल के अभेद को दृष्टि के विषय में रखा है। नित्यता काल का अभेद है, उसे दृष्टि के विषय में से नहीं निकाला है।**

इस संबंध में लोग गलत समझते हैं कि गुण और प्रदेशों के साथ पक्षपात किया है; क्योंकि गुणभेद और प्रदेशभेद तो सम्मिलित नहीं किए, लेकिन गुणों और प्रदेशों को रखा है, जबकि पर्याय को पूरी तरह से बाहर निकाल दिया है।

जिसप्रकार द्रव्य का भेद निकाला है और द्रव्य का अभेद सम्मिलित किया है, क्षेत्र का भेद निकाला है और क्षेत्र का अभेद सम्मिलित किया है, गुण का भेद निकाला है और गुण का अभेद सम्मिलित किया है, उसीप्रकार काल का भेद निकाला है, लेकिन काल का अभेद दृष्टि के विषय में सम्मिलित किया है।

काल का भेद, प्रदेश का भेद, गुण का भेद और द्रव्य का भेद - इन चारों का नाम पर्याय है, मात्र काल के भेद का नाम पर्याय नहीं है।

लोगों ने मात्र पर्याय के नाम पर, काल का भेद तो दृष्टि के विषय में से निकाल दिया, बाकी तीन को सम्मिलित कर लिया और दृष्टि के विषय में काल का अभेद सम्मिलित करना था तो उस काल के अभेद को भी निकाल दिया और वे समझने लगे कि हमने पर्यायों से भी पार, पर्यायों से भिन्न दृष्टि का विषय पा लिया है; पर वे बड़े धोखे में हैं।

'पर्याय' में काल का अभेद शामिल नहीं है और प्रदेश का भेद, गुण का भेद, द्रव्य का भेद और काल का भेद - ये चारों भेद पर्याय में शामिल हैं। यही पर्याय का वास्तविक अर्थ है। ●

चौथा प्रवचन

''दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल हैं या नहीं'' – इस प्रश्न का उत्तर समयसार परमागम की छठवीं-सातवीं गाथा के आधार पर चल रहा है।

वस्तु के सामान्य और विशेष – ये दो रूप द्रव्य की अपेक्षा से हैं, भेद और अभेद – ये दो रूप क्षेत्र की अपेक्षा से हैं, नित्य और अनित्य – ये दो रूप काल की अपेक्षा से हैं और एक और अनेक – ये दो रूप भाव की अपेक्षा से हैं।

जिसप्रकार गुणों का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है और गुणभेद पर्यायार्थिकनय का; प्रदेशों का अभेद (अनुस्यूति से रचित एक वास्तु) द्रव्यार्थिकनय का विषय है और प्रदेशभेद पर्यायार्थिकनय का; द्रव्य का अभेद (सामान्य) द्रव्यार्थिकनय का विषय है और द्रव्यभेद (विशेष) पर्यायार्थिकनय का; उसीप्रकार काल (पर्यायों) का अभेद (अनुस्यूति से रचित प्रवाह) द्रव्यार्थिकनय का विषय होता है और कालभेद (पर्यायें) पर्यायार्थिकनय का विषय बनता है।

द्रव्यार्थिकनय का विषय ही, दृष्टि का विषय है; क्योंकि द्रव्यार्थिक नय का विषय अभेद है और अभेद, निर्विकल्पता का जनक है।

पर्यायार्थिकनय का विषय भेद, विकल्प का जनक होने से दृष्टि का विषय नहीं हो सकता।

'प्रवचनसार' में जो ४७ नय बताये हैं, उनमें विकल्पनय और अविकल्पनय भी है। वहाँ भी विकल्पनय का अर्थ भेद और अविकल्पनय का अर्थ अभेद ही है।

एक बात समझने की और भी आवश्यक है कि **नित्यता और अनित्यता में नित्यता तो द्रव्यार्थिकनय का विषय है और अनित्यता पर्यायार्थिकनय का विषय है। लेकिन आत्मा में जो नित्यत्व और अनित्यत्व नाम के धर्म हैं; वे दोनों ही गुण हैं, धर्म हैं; पर्याय नहीं।**

अर्थात् सर्वज्ञता, पर्याय है और सर्वज्ञत्व नाम की शक्ति, गुण/धर्म है। सर्वदर्शित्व पर्याय है और सर्वदर्शित्व नाम की शक्ति, गुण/धर्म है; तथापि लोग सर्वज्ञता के साथ सर्वज्ञत्व शक्ति को भी सर्वज्ञ पर्याय जैसा ही दृष्टि के विषय से बाहर मान लेते हैं। चूँकि सर्वज्ञता पर्याय है और पर्याय दृष्टि के विषय में नहीं आती, इसमें सर्वज्ञत्व शक्ति थोड़े ही दृष्टि के विषय में से निकल जावेगी; क्योंकि सर्वज्ञत्वशक्ति तो आत्मा का गुण है और गुणों का अभेद द्रव्यार्थिकनय के विषय में शामिल है।

ध्यान रहे, उसमें समस्त गुण, समस्त धर्म, समस्त शक्तियाँ और समस्त स्वभाव शामिल हैं; क्योंकि ये सभी गुण के ही रूपान्तर हैं।

प्रवचनसार की ९३वीं गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका में लिखा है –

''अन्वयिनो गुणाः अथवा सहभुवा गुणा इति गुणलक्षणम्। व्यतिरेकिणः पर्याया अथवा क्रमभुवः पर्याया इति पर्यायलक्षणम्।''

ये क्रमशः गुण और पर्याय के लक्षण हैं। जब हमें पर्याय को दृष्टि के विषय में से हटाना है तो हमें उस पर्याय का स्वरूप जानना भी आवश्यक है और हमें जिन गुणों को दृष्टि के विषय में अभेदपने रखना है, उन गुणों का स्वरूप जानना भी आवश्यक है; क्योंकि वस्तु को स्वरूप (लक्षण) से ही पहिचाना जाता है।

''हम पर्याय के नाम पर गुणों को भी दृष्टि के विषय में से न हटा दें'', इसलिए भी इनका स्वरूप जानना आवश्यक है।

शास्त्रों में गुणों को भी पर्याय नाम से अभिहित किया जाता है। पर्यायें दो प्रकार की होती हैं – १. सहभावी पर्याय, २. क्रमभावी पर्याय। सहभावी पर्याय गुण को कहते हैं और क्रमभावीपर्याय पर्याय को कहते हैं। अतएव हम पर्याय के नाम पर सभी पर्यायों को भी दृष्टि के विषय में से नहीं निकाल सकते।

एक सामान्य वाक्य कहा जाता है कि 'सज्जनपुरुषों को महिलाओं की ओर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए', तथापि महिला तो माँ भी है, पत्नी भी है, बहन भी है और बेटी भी है। यदि इनकी ओर निगाह नहीं डालेंगे

तो इन्हें पहचानेंगे कैसे ? जबकि 'दशलक्षणधर्म पूजा' में तो द्यानतरायजी ने कहा है कि – **उत्तमब्रह्मचर्य मन आनौ, माता–बहिन सुता पहचानो।**

यहाँ महिला शब्द का आशय पर–स्त्रियों से है और दृष्टि डालने का आशय खोटी निगाह से देखना है। तात्पर्य यह है कि पर–स्त्रियों को खोटी निगाह से नहीं देखना चाहिए। इसका ऐसा अर्थ करना कि माता–बहिन भी महिलायें हैं; अत: उनकी ओर भी देखना ही नहीं चाहिए – ठीक नहीं है।

अरे भाई ! वहाँ 'महिला' यह सामान्य कथन है और विशेष कथन अलग बात है और सामान्य से विशेष बलवान होता है।

'सामान्य की अपेक्षा विशेष बलवान होता है' – इस कथन से संबंधित मेरा एक प्रसंग सोनगढ़ में बना था। जब मैं सोनगढ़ में नयचक्र की कक्षा लेता था। पूज्य गुरुदेवश्री भी उस कक्षा में आद्योपान्त बैठते थे। मुझसे पहले यह कक्षा पण्डितश्री लालचंदजीभाई लेते थे, उसके पहले पण्डितश्री रामजीभाई लिया करते थे। श्री रामजीभाई ने अनेक वर्षों तक उस कक्षा को पढ़ाया। श्री लालचन्दभाई ने एक साल तक वह कक्षा ली; लेकिन कुछ लोगों ने उनके खिलाफ षडयंत्र करके उनसे वह कक्षा छुड़वाई थी। वे लोग मेरे विरुद्ध भी सक्रिय थे।

उस कक्षा में मैंने यह कहा कि – **''सामान्य–शास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान भवेत्।''** अर्थात् सामान्य की अपेक्षा विशेष बलवान होता है। चूँकि 'विशेष' पर्याय के अर्थ में और 'सामान्य' द्रव्य के अर्थ में भी होता है; इसलिए उन लोगों ने गुरुदेवश्री के पास जाकर मेरी यह शिकायत की कि डॉ. हुकमचन्दजी, पर्याय को दृष्टि के विषय में शामिल करते हैं, पर्याय पर ज्यादा वजन देते हैं। उन्होंने आज कक्षा में कहा कि द्रव्य–गुण की अपेक्षा पर्याय ज्यादा महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि सामान्य की अपेक्षा विशेष अधिक बलवान होता है।''

फिर गुरुदेवश्री ने मुझे बुलाया। उन्होंने स्पष्टरूप से मुझसे कुछ नहीं

कहा, लेकिन समयसार की ४९वीं गाथा में जो अव्यक्त के छह बोल आते हैं, उसमें से तीसरे बोल की पंक्ति निकाल कर मेरे सामने रखी और पूछा कि इसका क्या अर्थ है ?

उसमें ऐसा लिखा था कि चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न हैं। **व्यक्तियाँ माने विशेष अर्थात् पर्याय होता है और 'चित्सामान्य' माने आत्मा होता है।** इसप्रकार मेरा अभिप्राय जानने के लिए गुरुदेवश्री ने मुझसे इस पंक्ति का अर्थ पूछा।

मैं इस बात को अच्छी तरह जानता था कि 'गुरुदेवश्री को इसका अर्थ ख्याल में नहीं है' – यह बात तो हो नहीं सकती अर्थात् 'मुझे बड़ा पण्डित समझ कर मुझसे यह पूछ रहे हैं' – ऐसा तो हो ही नहीं सकता। यह बात तो निश्चित ही थी कि वे मेरी परीक्षा ले रहे थे। आजतक उन्होंने कभी परीक्षा नहीं ली थी; इसलिए मैंने सोचा कि जरूर हवा में कुछ गंध है। इसलिए मैंने गुरुदेवश्री से कहा –

"मैं इसका अर्थ शाम को या कल बताऊँगा।"

यद्यपि उस संबंध में मुझे शास्त्रों में कुछ देखना नहीं था; क्योंकि पहले से मेरा सब विषय देखा हुआ था और उस विषय पर मैंने गुरुदेवश्री के प्रवचन भी बहुत पढ़े थे; तथापि मैं यह जानना चाहता था कि ऐसा क्या हुआ, जिसके कारण गुरुदेवश्री को मुझसे यह पूछने का विकल्प आया।

जब मुझे यह ज्ञात हुआ कि कुछ लोगों के भड़काने पर गुरुदेवश्री ने मुझे बुलाया था, तब मैंने सोचा कि "चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न हैं" इसका अर्थ बताने के बजाय मुझे गुरुदेवश्री को **'सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्'** इस कथन की अपेक्षा स्पष्ट कर देना चाहिए।

फिर अगले दिन जब मैं गुरुदेवश्री के पास गया तो मैंने कहा कि **"सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्"**, यह तो आचार्य भगवन्त

का वाक्य है और इसका अर्थ यह होता है कि सामान्य कथन की अपेक्षा विशेष कथन बलवान होता है।

टोडरमलजी ने इस वाक्य को उद्धृत किया है, मैंने उसकी भी सारी अपेक्षायें गुरुदेवश्री के सामने रख दीं; लेकिन उनके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया तो गुरुदेवश्री ने कहा – 'ठीक है।' फिर उन्होंने उस कथन का अर्थ नहीं पूछा।

इसप्रकार गुरुदेवश्री के प्रश्न का उत्तर नहीं देकर मैंने वह बात स्पष्ट कर दी। वास्तव में तो उन्होंने वही प्रश्न पूछा था, सिर्फ उसकी भाषा को परिवर्तित कर दिया था।

जगत के लोग भी आपसे पूछना चाहेंगे कुछ और पूछेंगे कुछ; क्योंकि सीधे वही प्रश्न करने में उनके मन में संकोच रहता है; लेकिन जबतक उनको उस प्रश्न का सही जवाब नहीं मिलेगा, जिसके बारे में जिज्ञासा है; तबतक उन्हें संतुष्टि होनेवाली नहीं है अर्थात् चित्त को समाधान मिलनेवाला नहीं है। हम प्रश्न का उत्तर तो दे देंगे, लेकिन उनकी शंका का समाधान नहीं कर पायेंगे।

प्रश्न के उत्तर और शंका के समाधान में बहुत अंतर है। यदि कोई व्यक्ति अपने यहाँ कार्यक्रम में आने का निमंत्रण देते हुए मुझसे यह पूछे कि – आप हमारे यहाँ पधारोगे कि नहीं ? इस प्रश्न के मैं दो उत्तर दे सकता हूँ। एक तो यह कि 'आऊँगा' और दूसरा यह कि 'नहीं आऊँगा'।

'नहीं आऊँगा' सुनकर वह जानेवाला नहीं है, वह मुझसे कहेगा कि नहीं-नहीं, आपको तो आना ही है। यदि मैंने यह कह दिया कि मैं अवश्य आऊँगा तो वह उठकर चला जायेगा। वह तो यही सुनने आया था कि 'अवश्य आऊँगा'। जबतक वह यह नहीं सुनेगा, तबतक उसका समाधान नहीं होगा और उसका आग्रह अर्थात् प्रश्न चालू ही रहेगा।

प्रश्न का उत्तर तो कुछ भी हो सकता है। किसी प्रश्न का उत्तर तो

यह भी हो सकता है कि 'इसका उत्तर मुझे नहीं आता है' और यह भी हो सकता है कि 'मैं तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं हूँ।'

'शाह आयोग' में जब इन्दिरा गाँधी से कोई भी प्रश्न पूछा जाता तो वह यही कहती थीं कि मैं आपके इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं हूँ। उसके वकील ने उसको यही वाक्य रटा दिया था।

वह यह भी कहतीं कि यदि आप बाध्य करेंगे तो भी मैं यही जवाब दूँगी और यदि फिर भी प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य करेंगे तो मैं आप पर केस करूँगी; क्योंकि कानून में यह सब बताया गया है कि किसी भी व्यक्ति से क्या बात पूछी जा सकती है और क्या बात नहीं पूछी जा सकती। कुछ व्यक्तिगत बातें ऐसी होती हैं, जिनके बारे में पूछने का अधिकार अदालत को भी नहीं है।

उनका वकील इस बात को अच्छी तरह जानता था। मंत्रीमण्डल की बैठकों के नियम अनुसार हर मिनिस्टर को गोपनीयता की शपथ लेनी पड़ती है कि वह कोई भी गुप्त बात को प्रगट नहीं करेगा। कैबिनेट की मीटिंग की जो बहस होती है, वह अंतरंग बहस है तो इन्दिरा गाँधी ने कहा कि जो आप जानना चाहते हैं, उसको गुप्त रखने के लिए मैंने कसम खाई है। यदि मुझे प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य किया जाता है तो कानून के हिसाब से अदालत मेरे से वह कानून तुड़वा रही है। यदि मुझे इसके लिए बाध्य किया जाता है तो बाध्य करने का केस आप पर भी चल सकता है।

इसप्रकार प्रश्न का उत्तर तो यह भी हो सकता है कि मैं तुम्हारें इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं हूँ।

अधकचरे लोग इस बात को नहीं समझते हैं और हर प्रश्न का जवाब उल्टा-सीधा कुछ भी दे देते हैं और फिर कहीं न कहीं अटक जाते हैं। अरे भाई ! यह जरूरी नहीं है कि हमें जिस प्रश्न का उत्तर नहीं आता है, उसका उत्तर हम दें ही। यदि वास्तव में उस प्रश्न का उत्तर नहीं आता है तो हमें यह कह देना चाहिए कि हमें उसका उत्तर नहीं

आता है। यदि ऐसा कहने से आपके अभिमान को ठेस लगती है तो यह कह देना चाहिए कि इस बारे में मैं कुछ नहीं कहना चाहता हूँ। उत्तर तो यह भी है; लेकिन यह शंका का समाधान नहीं है।

इसप्रकार 'प्रश्न का उत्तर' और 'शंका का समाधान' इन दोनों में बहुत अंतर है।

जबतक हम पर्याय का लक्षण नहीं समझेंगे, तबतक हम पर्याय को नहीं पहचान सकेंगे। दृष्टि के विषय में जिस पर्याय को शामिल नहीं करना है, हमें उस पर्याय का सम्यक् अर्थ समझना अत्यंत आवश्यक है। अभी तक तो हमने अपने मन में पर्याय का जो अर्थ समझ रखा है; उसी का दृष्टि के विषय में निषेध करके अर्थ का अनर्थ कर रहे हैं।

प्रवचनसार की गाथा ९३ में कहा है –

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुण पज्जाया पज्जयमूढ़ा हि परसमया।।९३।।

अर्थात् पदार्थ द्रव्यस्वरूप है; द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं और द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं। पर्यायमूढ़ जीव परसमय/मिथ्यादृष्टि है।

इसमें पर्याय में एकत्वबुद्धि करनेवाले को परसमय कहा है।

अरे ! उसी ग्रन्थ की जो तत्त्वप्रदीपिका टीका आचार्य अमृतचंद्रदेव ने लिखी है; उसमें उन्होंने पर्याय समझाते हुए असमानजातीय पर्याय को मुख्य किया है; देव, मनुष्य, नारकी, तिर्यंच – इन पर्यायों की बात कही है।

वास्तव में तो वहाँ असमानजातीय द्रव्यपर्याय की बात करते हुए यह कहा है कि 'मैं मनुष्य नहीं हूँ, मैं देव नहीं हूँ, मैं नारकी नहीं हूँ', वहाँ तो उन्होंने राग की भी बात नहीं की है, फिर केवलज्ञान की बात कैसे हो सकती है ? पर आज तो यह हो रहा है कि जब पर्याय से भिन्नता की बात आती है तो हम केवलज्ञान से ही आरंभ करते हैं अर्थात् मैं केवलज्ञान से भी भिन्न हूँ – ऐसा बताते हैं।

'मुख्य सो निश्चय' का अर्थ यह नहीं है कि निश्चय को मुख्य रखना या व्यवहार को कभी मुख्य नहीं रखना।

यदि व्यवहार को कभी भी मुख्य नहीं करना है तो फिर उसको जिनवाणी में रखा ही किसलिए है ?

जैसे – कोई मुझसे ऐसा कहे कि "साहब ! आपको यह टेलीफोन देता हूँ, इसमें घड़ी भी है और इसमें अलार्म भी आप लगा सकते हो; लेकिन आपको कभी अलार्म लगाना नहीं, उसको छूना भी नहीं" तो फिर उस घड़ी में अलार्म का औचित्य क्या रह जाता है ?

वैसे ही भगवान ने तो दोनों नय बताए हैं; लेकिन कोई कहे कि इस एक नय (व्यवहारनय) का प्रयोग करना ही नहीं, उसे खोलना ही नहीं तो फिर उस नय की उपयोगिता क्या रह जाती है ?

जैसे – टेलीफोन में घड़ी भी हो और कोई कहे कि इससे मात्र घड़ी का काम लेना, टेलीफोन का काम मत लेना। जबकि उसमें मुख्यता टेलीफोन की है, घड़ी की नहीं है।

उपयोग तो व्यवहारनय का ज्यादा करना है और कोई कहे कि व्यवहारनय को मत खोलो, निश्चय को ही मुख्य रखो। लोग तो ऐसा भी कहते हैं कि गुरुदेवश्री ने भी यही कहा है कि व्यवहार को गौण रखना। भाई साहब ! गुरुदेव ने तो इस अर्थ में कहा है कि यदि आत्मा का कल्याण करना है तो आत्मा को ही मुख्य रखो और धंधे-पानी की बात को गौण कर दो।

जयपुर में लौकिक व्यवहार में ही उलझे रहनेवाले लोग कभी आत्मा की बात नहीं सुन सकते हैं, प्रवचन में भी कभी नहीं आ सकते हैं; क्योंकि जयपुर में तीन लाख जैनी रहते हैं और प्रतिदिन तिया के कार्यक्रम होते हैं। यदि राजस्थान पत्रिका या दैनिक भास्कर पढ़ो तो प्रतिदिन हमारी जान-पहिचान की चार-पाँच तिये की बैठकें जरूर होती हैं और समय तो वही है सबह ८ बजे का, जो कि प्रवचन का

समय होता है। अब यदि प्रत्येक तिये में जाना जरूरी है तो फिर प्रवचन कभी नहीं सुन पाओगे। यदि मैंने भी प्रतिदिन तिये में जाना शुरू कर दिया तो प्रवचन कौन करेगा ?

ऐसा पढ़कर कोई यह कहे कि आप हमें यह सिखा रहे हैं कि तिये में नहीं जाना अर्थात् हमारा सामाजिक व्यवहार खत्म करना चाहते हो। यदि हम किसी के तिये में नहीं आयेंगे तो हमारे तिये में भी कौन आयेगा; इसलिए हमें जाना ही पड़ेगा।

अरे भाई ! मान लो तुम सारी जिन्दगी दूसरों के तिये में गये और कहीं हवाई जहाज आदि की दुर्घटना में कहीं दूसरी जगह मर गए और तुम्हारा तिया ही नहीं हुआ तो ?

मैं अपने तिये में भीड़ इकट्ठी करने के लिए सारी जिन्दगी अध्यात्म की चर्चा छोड़ूँ और अंत में कोई मेरे तिये में नहीं आये तो क्या होगा ?

मान लो किसी महाराजजी का आदेश हो गया कि इस पण्डित के तिये में मत जाना और कोई मेरे तिये में नहीं आया तो फिर मेरी सारी जिन्दगी की तपस्या तो मुफ्त में ही चली जायेगी। वास्तव में हमारे तिये में कोई हमारे व्यवहार से थोड़े ही आते हैं, वह तो हमारे बच्चों के व्यवहार से आते हैं।

जिस मनुष्य भव में हमारी आत्मा का कल्याण हो सकता है, उस मनुष्य भव को हम तिये की भीड़ के लिए बर्बाद नहीं कर सकते हैं।

गुरुदेवश्री ने जो निश्चय को मुख्य और व्यवहार को गौण करने को कहा है, वह लौकिक व्यवहार को गौण करना इस अर्थ में कहा है। वह कथन नयों के प्रयोग का नहीं है।

जैसे – गाड़ी में गतियंत्र (एक्सीलेटर) और अवरोधक (ब्रेक) दोनों होते हैं तो ऐसा नहीं हो सकता है कि अकेला गतियंत्र पर ही पैर रखा जाये, अवरोधक पर कभी पैर रखा ही नहीं जाये और न ही यह हो सकता है कि इन दोनों का बंटवारा कर दिया जाये कि ५०

प्रतिशत पैर अवरोधक (ब्रेक) पर रखना और ५० प्रतिशत गतियंत्र पर रखना।

अरे भाई ! आवश्यकता के अनुसार ही गतियंत्र (एक्सीलेटर) पर पैर रखा जाएगा और आवश्यकता के अनुसार ही अवरोधक पर पैर रखा जायेगा।

'किस समय गतियंत्र पर पैर रखना और किस समय अवरोधक पर पैर रखना' इसका निर्णय भी ड्राइवर के हाथ में ही रहेगा।

वैसे ही जैनदर्शन में भी नय को मुख्य-गौण करना अवरोधक और गतियंत्र के समान ही है और मुख्य-गौण करने का अधिकार नयों के प्रयोग करनेवालों को दिया जायेगा; क्योंकि यह सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा है – 'वक्तुरभिप्रायो नयः' अर्थात् वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं। 'नय का प्रयोग कब करना और कब नहीं करना' इसका निर्णय भी वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर है।

जो नयों का प्रयोग करता है, उसके ऊपर यह निर्भर रहता है कि वह किस अपेक्षा का प्रयोग कब करे।

'रात्रि भोजन नहीं करना चाहिए' – यह कथन व्यवहारनय का है कि निश्चयनय का ? यदि इस व्यवहारनय के कथन को कभी भी मुख्य नहीं करेंगे तो इसका अर्थ यह हो जायेगा कि सभी को रात में खाने देना चाहिए। यदि हम ऐसा कहेंगे कि – 'शाम को भोजनालय बन्द हो जायेगा' तो व्यवहारनय 'मुख्य' हो जायेगा और व्यवहारनय 'मुख्य' करना नहीं है। अब यदि इस व्यवहार को मुख्य नहीं करेंगे तो रात में भी भोजनालय खुला रहेगा; क्योंकि रात में भोजन न करनेरूप व्यवहार को मुख्य नहीं करना है।

अब यहाँ कोई कहे कि अध्यात्मियों को व्यवहारनय का प्रयोग नहीं करना चाहिए तो मैं पूछता हूँ कि –

हजार वर्ष के इतिहास में आजतक सबसे बड़ा अध्यात्मी कौन

हुआ है ? यदि इस बात का निर्णायक हम पण्डित टोडरमलजी को माने तो पण्डित टोडरमलजी ने कहा है कि 'यदि सिद्धान्त का अध्ययन करना है तो गोम्मटसार का स्वाध्याय करना और यदि अध्यात्म जानना है तो 'आत्मख्याति का स्वाध्याय करना' – इसप्रकार पण्डित टोडरमलजी ने अमृतचंद्राचार्यजी को सर्वश्रेष्ठ अध्यात्मी माना है।

उन्हीं आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' नामक ग्रन्थ में व्यवहारनयों के कथनों का अत्यधिक प्रयोग किया है।

उन्होंने माँस–मदिरा के खान–पान के निषेध की जितनी भी गाथाएँ लिखी हैं, वे सभी व्यवहारनय की हैं। 'अहिंसा' का जितना भी विवेचन उन्होंने किया है उसमें ४४वीं गाथा निश्चयनय की है, अन्य अधिकांश वर्णन व्यवहार से ही किया है। अणुव्रत, महाव्रत, गुणव्रत आदि का जो भी वर्णन इस ग्रन्थ में किया है, वह सब व्यवहारनय की अपेक्षा से है।

इसप्रकार आचार्य अमृतचन्द्र ने जो कि सबसे बड़े अध्यात्मी थे, व्यवहारनय के कथनों का अत्यधिक प्रयोग किया है।

इसलिए ऐसा कथन नहीं करना चाहिए कि ''अध्यात्मियों को व्यवहारनय का प्रयोग नहीं करना चाहिए, बाकी लोग कर सकते हैं।''

वास्तव में कथन तो ऐसा है कि ''आत्मानुभूति के काल में निश्चय को ही मुख्य करना चाहिए, व्यवहार को नहीं'' तो लोगों ने 'आत्मानुभूति के काल में' यह तो छोड़ दिया और बाकी यह कथन ग्रहण कर लिया कि – ''निश्चय को मुख्य रखना चाहिए, व्यवहार को नहीं।

पण्डित टोडरमलजी ने रहस्यपूर्णचिट्ठी में 'बृहद् नयचक्र' की एक गाथा उद्धृत की है, जो कि इसप्रकार है –

तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जह्मा।।

तत्त्व के अवलोकन (अन्वेषण) का जो काल, उसमें समय अर्थात्

शुद्धात्मा को युक्ति अर्थात् नय-प्रमाण द्वारा पहले जानो। पश्चात् आराधन के समय में जो अनुभवकाल, उसमें नय-प्रमाण नहीं है; क्योंकि अनुभव प्रत्यक्ष है।

इसप्रकार इस गाथा में व्यवहारनय के प्रयोग का निषेध तो अनुभव के काल में किया है, तत्त्व के अन्वेषण के काल में तो इसका समर्थन किया है। जो लोग यह कहते हैं कि – **"निश्चय को ही मुख्य रखना, व्यवहार को नहीं", उन लोगों को अभी तत्त्वान्वेषण का काल चल रहा है या अनुभूति का काल चल रहा है ? निश्चितरूप से तत्त्वान्वेषण का ही काल चल रहा है।**

वास्तव में तो निश्चय से ज्यादा व्यवहार का काल है। जिनको सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है, उनको तो हमेशा व्यवहार ही मुख्य है; क्योंकि उनका तो पूरा काल तत्त्वान्वेषण का ही है।

अविरत सम्यग्दृष्टि को भी १५ दिन से छह महीने तक में कभी-कभी क्षणिक अनुभूति होती है, उसके अतिरिक्त समग्र काल तो व्यवहार का ही काल है।

पंचम गुणस्थानवर्ती जीव को एक मुर्हूर्त से पन्द्रह दिन में कभी-कभी क्षणिक अनुभूति होती है, अत: उस काल के अतिरिक्त उसका भी सम्पूर्ण काल व्यवहार का ही है।

सच्चे वीतरागी मुनिराजों को भी २४ घंटे में कुल मिलाकर ८ घंटे ही अनुभूति रहती है। १६ घंटे तो उनका भी व्यवहारकाल रहता है। अतएव उनका भी तत्त्वान्वेषण का काल अनुभूति के काल से दुगुना है।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उन ८ घंटे में भी लगातार अनुभूति नहीं रहती है; क्योंकि यदि विशिष्ट अन्तुर्मुहूर्त भी लगातार अनुभूति रह जाए तो केवलज्ञान की उत्पत्ति हो जाये।

अतएव तत्त्वान्वेषण के काल में व्यवहार मुख्य रहता है और अनुभूति

के काल में निश्चय। इसप्रकार व्यवहारनय की भी उपयोगिता है, उसको पूर्णतया नहीं उड़ाया जा सकता है।

अरे भाई! जिसप्रकार गुणों का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है और गुणभेद पर्यायार्थिकनय का, प्रदेशों का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है और प्रदेशभेद पर्यायार्थिकनय का, द्रव्य का अभेद अर्थात् सामान्य द्रव्यार्थिकनय का विषय है और द्रव्यभेद अर्थात् विशेष पर्यायार्थिकनय का; उसीप्रकार काल का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है और कालभेद पर्यायार्थिकनय का विषय है।

यदि काल के भेद और अभेद दोनों ही निकाल देंगे तो भगवान आत्मा काल से खण्डित हो जाएगा फिर वह सम्पूर्ण भगवान आत्मा नहीं रहेगा और उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होगी।

जो-जो पर्यायार्थिकनय का विषय है,उन सभी की पर्याय संज्ञा है और जो-जो द्रव्यार्थिकनय का विषय है, उन सभी की द्रव्य संज्ञा है।

जिनकी 'द्रव्य' संज्ञा है, वे दृष्टि के विषय में शामिल हैं और जिनकी 'पर्याय' संज्ञा है, वे दृष्टि के विषय में शामिल नहीं हैं।

इसप्रकार अध्यात्म में गुणभेद, प्रदेशभेद, द्रव्यभेद एवं कालभेद – इन सभी की पर्याय संज्ञा है अर्थात् गुणभेद, प्रदेशभेद, द्रव्यभेद, कालभेद – ये पर्यायें द्रव्यार्थिकनय का विषय नहीं बनती हैं अर्थात् ये दृष्टि का विषय भी नहीं बनती हैं।

सामान्य, अभेद, नित्य और एक – इनकी अखण्डता द्रव्यार्थिक नय का विषय है, इनमें भी जो इनका ये **'चारपना' है, वह दृष्टि का विषय नहीं है, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है अर्थात् 'चार' का ये जो भेद हैं, यह भेद पर्यायार्थिकनय का विषय हैं।**

जैसे – किसी मन्दिर के निर्माण के लिए चन्दा माँगने के लिए किसी के पास जाएँ और वे चार भाई हों तो वे एक लाख रुपये लिखाते हुए कहते हैं कि हमारा एक लाख रुपया लिख दो। फिर दूसरे भाई से चंदा के लिए कहा जाये तो वे कहते हैं कि हम सब तो एक ही हैं,

अलग-अलग नहीं हैं तो उनसे कहा कि भाईसाहब ! ऐसा कैसे हो सकता है ?

आप सभी की दुकानें अलग-अलग हैं, रसोई भी अलग-अलग बनती है तो वे कहते हैं कि दरअसल बात यह है कि घर में थोड़ी बनती नहीं है न; इसलिए अलग-अलग रहते हैं; लेकिन समाज के लिए तो हम एक ही हैं। इसप्रकार वे दस-दस साल तक समाज में एक ही बने रहते हैं; लेकिन पाटियों पर नाम लिखने की बात आने पर उनसे जब यह कहा जाता है कि नाम भी किसी एक का ही लिख देंगे तो वे कहते हैं कि नहीं, नहीं; नाम तो चारों के ही लिखने होंगे।

इसप्रकार जगत में तो मुख्य-गौण करने में हम बहुत चतुर होते हैं। जब पैसे देने का मामला आता है तो हम एक मिनिट में एक हो जाते हैं, भेद का भी अभेद हो जाता है; लेकिन जब पाटियों पर नाम लिखने का मामला आता है तो फिर अलग-अलग नाम लिखने का कहकर जुदे-जुदे हो जाते हैं। इसप्रकार जगत में मुख्य-गौण तो कितनी तेजी से बदलता है।

इसीप्रकार आचार्य भी कहते हैं कि जब आत्मा का निर्णय करना हो, तब निश्चय को मुख्य करना।

जब खान-पान का निर्णय करना हो तो क्या खाना चाहिए क्या नहीं खाना चाहिए, गुरु के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए ? इन सभी का निर्णय करना हो तो व्यवहारनय को मुख्य कर लेना चाहिए।

जैसे – आजकल तो सभी वाहन आटोमेटिक हो गये हैं, उनमें गतियंत्र दबाना ही नहीं पड़ता है। एक बार यदि स्थापित (सैट) कर दिया तो गियर भी स्वत: ही परिवर्तित होते रहते हैं। सबकुछ स्वत: होता रहता है; **उसीप्रकार यदि हम भी एक बार तत्त्वज्ञान के अभ्यासी हो जायेंगे, फिर हमें भी सोच-सोचकर कुछ नहीं करना पड़ेगा। सहज ही समय-समय पर निश्चय और समय-समय पर व्यवहार मुख्य हो जाएगा।**

यदि व्यवहार को गौण करना है तो निषेध करने का नाम गौणता नहीं है, उसके बारे में कुछ नहीं कहना ही गौणता का लक्षण है।

निषेध करना और प्रतिपादन करना तो मुख्य का लक्षण है, गौण का नहीं।

अरे भाई ! "दृष्टि के विषयभूत आत्मा में पर्यायें नहीं हैं" – ऐसा कहकर हमने पर्यायों को गौण नहीं किया है; अपितु मुख्य ही किया है। हम मना करके गौण नहीं कर रहे हैं; क्योंकि गौण तो चुप्पी का नाम है।

यदि व्यवहार को दिनभर गालियाँ देकर हम यह समझते हैं कि हम व्यवहार को गौण कर रहे हैं तो यह हमारी भूल है। हमने दिनभर ही व्यवहार को मुख्य रखा है। सारे दिन ही हमारे माथे पर व्यवहार हावी रहा है। **व्यवहार के बारे में चर्चा नहीं करने का नाम ही व्यवहार को गौण करना है।**

जैसे – कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से यह कहे कि मैंने तुम्हारी सभी पुरानी बातें गौण कर दीं, मुझे पता है कि तुमने मुझे कितनी गालियाँ दी थीं; लेकिन मैंने सब कुछ गौण कर दिया है। तुम कितने नालायक हो, यह भी मैं जानता हूँ; लेकिन मैंने सब गौण करके तुम्हें माफ कर दिया है। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम जैसा नालायक कोई नहीं होगा और मेरे जैसा कोई माफ करनेवाला नहीं होगा; तो ये शब्द उसके क्षमादान को प्रदर्शित नहीं करते; क्योंकि यदि उसने वास्तव में माफ कर दिया होता तो उसके मुँह से ऐसे शब्द निकल ही नहीं सकते थे। ये शब्द तो यह बता रहे हैं कि वह भूल ही नहीं पा रहा। उसने उन पुरानी बातों को पुन:-पुन: कह कर गौण नहीं किया है; अपितु मुख्य ही किया है।

जैसे – एक व्यक्ति को अन्य व्यक्ति से एक लाख रुपये लेना हो; लेकिन उसके पास इतने रुपये देने को नहीं हों अथवा वह व्यक्ति उससे अपने रुपये वसूल नहीं कर पा रहा हो तो वह कहता है कि मैंने एक लाख रुपये छोड़ दिए। वह ऐसी घोषणा करता है; लेकिन रुपये देनेवाले

की जब एक करोड़ की लॉटरी खुल जाती है तो वह उस व्यक्ति को एक लाख रुपये वापस करता है; अब यदि वह छोड़नेवाला उससे रुपये ले लेता है तो फिर उसने रुपये कहाँ छोड़े ? इसका नाम छोड़ना नहीं है।

छोड़ने का मतलब तो यह है कि यदि वह उसे रुपये वापस देता है तो वह यह कहे कि मैं तो छोड़ चुका हूँ, लेकिन यदि रुपये वसूल नहीं हो रहे हों तो वह यह कहे कि 'मैंने छोड़ दिए', तो इसका नाम छोड़ना नहीं है।

वास्तव में गौण कहते किसे हैं ? हमें अभी यह भी सीखना पड़ेगा।

यदि 'जगत व्यवहार' एक समय को भी गौण हो जाये तो तुरंत सम्यग्दर्शन हो जाये और सम्यग्दर्शन है नहीं, इसका मतलब यह है कि एक समय को भी व्यवहार गौण हुआ नहीं है; क्योंकि निश्चय तो अनुभव के काल में प्रकट होता है, अभी तो व्यवहार ही है। ●

भाई ! जो व्यक्ति अपनी वाणी का सदुपयोग करता है, समाज उसका सन्मान करता है और जो दुरुपयोग करता है, उसकी उपेक्षा या अपमान। इसप्रकार सन्मान के लोभ से एवं उपेक्षा या अपमान के भय से हम बहुत-कुछ अपनी वाणी पर भी संयम रखते हैं; पर यदि मैं अभी यहीं बैठे-बैठे आप सबको मन में गालियाँ देने लगूँ तो मेरा क्या कर लेगा समाज और क्या कर लेगी सरकार ?

यही कारण है कि भगवान महावीर ने कहा कि न जहाँ सरकार का प्रवेश है और न जहाँ समाज की चलती है, धर्म का काम वहाँ से आरंभ होता है; अतः उन्होंने ठीक ही कहा है कि आत्मा में रागादि की उत्पत्ति ही हिंसा है और आत्मा में रागादि की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है – यही जिनागम का सार है। **– गागर में सागर, पृष्ठ-७८**

पाँचवाँ प्रवचन

समयसार ग्रन्थाधिराज की छठवीं-सातवीं गाथा के आधार पर यह चर्चा चल रही है कि दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल है या नहीं? तथा जिस पर्याय के सन्दर्भ में यह प्रश्न उठाया जा रहा है; उस पर्याय का वास्तविक अर्थ क्या है?

अध्यात्म में गुणभेद, प्रदेशभेद, द्रव्यभेद (विशेष) एवं कालभेद (पर्याय) - इन सभी की पर्यायसंज्ञा ही है और ये सभी पर्यायें द्रव्यार्थिकनय का विषय नहीं बनतीं; अतः दृष्टि का विषय भी नहीं बनतीं।

जब ऐसा कहा जाता है कि दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल नहीं है, तब 'पर्याय' का अर्थ मात्र 'द्रव्य-गुण-पर्याय' वाली पर्याय ही नहीं होता है, उस **पर्याय में गुणभेद, प्रदेशभेद, द्रव्यभेद एवं कालभेद भी शामिल है।**

सातवीं गाथा में निश्चय-व्यवहार की 'अभेद सो निश्चय और भेद सो व्यवहार' इस परिभाषा को मुख्य किया है।

अब यदि कोई यह कहे कि ''यह बात तो सातवीं गाथा में नहीं, अपितु छठवीं गाथा में होनी चाहिए; क्योंकि पर्याय के निषेध की गाथा तो छठवीं है, सातवीं नहीं ?

उत्तर - सातवीं गाथा भी पर्याय के निषेध की ही है, गुण के निषेध की नहीं है; क्योंकि **'गुणभेद' को तो पर्याय ही कहा जाता है।** छठवीं गाथा में तो उपचरित-सद्भूतव्यवहार का निषेध है और सातवीं गाथा में 'भेद-व्यवहार' नामक अनुपचरित-सद्भूतव्यवहार का निषेध है। इसप्रकार **सातवीं गाथा में भी भेदरूप पर्याय का ही निषेध किया गया है।**

'द्रव्य' को यदि अनंतगुणों के रूप में अलग-अलग करके देखा

जायेगा तो द्रव्य नहीं दिखेगा; बल्कि अनन्त गुण दिखेंगे; लेकिन जब अनन्तगुणों को अभेद करके देखेंगे, तब द्रव्य दिखाई देगा।

जैसे - शरीर में हाथ, पैर, नाक, कान सिर होते हैं। यदि इनमें से किसी एक को देखेंगे तो सिर्फ वही दिखेगा, शरीर नहीं दिखेगा। शरीर तो इन सभी के अभेद का नाम है।

उसीप्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र पर जबतक दृष्टि रहेगी, तबतक आत्मा नहीं दिखेगी, ज्ञान-दर्शन-चारित्र ही दिखेंगे।

अनन्त गुणों के अभेद का नाम द्रव्य है। गुणों के भेद का नाम तो द्रव्य है ही नहीं।

यदि सारे हिन्दुस्तान में से राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र आदि सभी प्रान्त निकाल दिए जायें, तो फिर हिन्दुस्तान कहाँ बचा; क्योंकि इन सभी प्रान्तों के अभेद का नाम ही तो हिन्दुस्तान है। **जिसे हिन्दुस्तान देखना है, उसे इन सब भेदों को गौण करना होगा और अभेद को देखना पड़ेगा।**

द्रव्य में जो अनन्त गुण हैं, उन सभी में लक्षण भेद हैं। जैसे - ज्ञानगुण का काम जानना है, दर्शन गुण का काम देखना है, श्रद्धा गुण का काम अपनापन स्थापित करना है। इस सभी का लक्षण अलग-अलग होने से ये जुदे-जुदे हैं; लेकिन ये कभी भी बिखरकर अलग-अलग नहीं होते। **ये गुण, अनादिकाल से अनन्तकाल तक एक दूसरे से अनुस्यूत हैं। इसप्रकार, ऐसे अनन्तगुणों के अभेद को द्रव्य कहते हैं।**

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने भी लिखा है कि **भेद पर लक्ष्य रखने से अभेद वस्तु ख्याल में नहीं आती है; इसलिए उन्होंने कहा कि भेद को गौण कर दो।**

'भेद को गौण कर दो' ऐसा भी इसलिए कहते हैं; क्योंकि **यदि भेद को गौण नहीं किया तो उनका अभाव मान लिया जायेगा।**

जहाँ कहीं भी ऐसा कहा जाता है कि 'भेद तो है ही नहीं' तो वह

इसलिए कहा जाता है कि जब भेद को गौण करने के लिए कहते हैं तो कोई गौण नहीं करता है, इसलिए उस भेद को भूल जाने के लिए ही कह देते हैं।

जैसे कोई व्यक्ति पुरानी बातों को गौण नहीं कर पाता है और बार-बार कहता है कि वे तो कभी-कभी याद आ ही जाती हैं, इसलिए कहे बिना रहा नहीं जाता तो उससे कहते हैं कि **उन पुरानी बातों को भूल जाओ, मान लो कि वे बातें कभी हुई ही नहीं थीं।**

उसीप्रकार अध्यात्म में जो यह कहा जाता है कि 'ये हैं ही नहीं' इस 'ही' का तो इसलिए प्रयोग करते हैं; क्योंकि तुम गौण नहीं कर पाते हो।

जैसे किसी चीज का निशाना लगाना होता है अथवा किसी चीज को बारीकी से देखना होता है तो एक आँख को बन्द करके देखते हैं।

यदि दूसरी आँख पूर्णतया बन्द नहीं करेंगे तो पदार्थ स्पष्ट नहीं दिखाई देगा। इसप्रकार **दूसरी आँख से नहीं देखने का नाम गौण करना है।**

यदि कोई कहे कि जब दूसरी आँख से देखना ही नहीं है तो उसको फोड़ ही लेते हैं तो उससे कहते हैं कि फोड़ो मत, अभी गौण करने का अभ्यास करो।

यदि एक आँख फोड़ेंगे तो एक आँख ही नहीं फूटेगी, अपितु तुम पूरे काने हो जाओगे अर्थात् तुम्हारा स्वरूप ही खण्डित हो जायेगा।

भेद भी वस्तु का स्वरूप उसीप्रकार है, जिसप्रकार अभेद।

यदि भेद को वस्तु में से निकाल दिया तो भेद ही खण्डित नहीं होगा, अपितु पूरी वस्तु ही खण्डित हो जायेगी; इसलिए वस्तु को अखण्डित रखने के लिए भेद को गौण करने के लिए कहा जाता है।

यदि अभेद वस्तु को स्पष्ट देखना हो तो भेद को गौण करना ही होगा; क्योंकि **भेद को गौण किए बिना अभेद वस्तु स्पष्ट दिखाई नहीं**

देती। अतएव भेदवाली आँख को सर्वथा बन्द करने की बात कही जाती है, उसे फोड़ लेने की नहीं।

उस भेदवाली आँख को अभेद को देखते समय ही सर्वथा बन्द रखना है, हमेशा बन्द नहीं रखना है, समय आने पर उसे खोलना भी पड़ेगा।

अध्यात्म में तो गुणभेद, प्रदेशभेद, द्रव्यभेद एवं कालभेद - इन सभी भेदों का निषेध है, लेकिन यदि चारों को अलग-अलग नहीं कहना हो तो सामान्यतः 'भेद का निषेध' - ऐसा भी कह दिया जाता है; लेकिन उसका अर्थ चारों भेदों का निषेध ही है।

जब ऐसा कहा जाता है कि भेद को गौण कर दो, तब उसका अर्थ यही होता है कि पर्याय को गौण कर दो।

सामान्य, नित्य, एक और अभेद - ये चारों तो दृष्टि के विषय में शामिल हैं; लेकिन इन चारों का भेददृष्टि में शामिल नहीं है अर्थात् ये चारों अभेदरूप में दृष्टि के विषय में शामिल हैं।

भगवान महावीर २६००वीं जयन्ती पर भारत सरकार ने यह तय किया कि वह जैनियों को अर्थात् भगवान महावीर के भक्तों को दिल्ली में ५ एकड़ जमीन देना चाहती है, जहाँ पर भगवान महावीर का स्मारक बना सके। लेकिन सरकार दिगम्बरों को, श्वेताम्बरों को, स्थानकवासियों को अथवा तेरहपंथियों को नहीं; अपितु सभी जैनियों को यह जमीन देना चाहती है। अब यदि ये चारों पंथ अभेद होकर सरकार के पास जाते हैं तो ही सरकार जमीन देगी, अन्यथा नहीं देगी।

इस प्रसंग पर दिगम्बर जैन कहते हैं कि हमारे साधु कपड़े नहीं पहनते हैं, इनके साधु कपड़े पहनते हैं - इत्यादि बहुत भेद हैं, हम सब एक कैसे हो सकते हैं? लेकिन जब उन्हें पता चलता है कि जो ५ एकड़ जमीन मिल रही है, वह ५ अरब की होगी - ऐसा सुनकर सभी मिल जाते हैं।

दिगम्बर-श्वेताम्बर मिल जाते हैं। उनके विचार का बिन्दु यह नहीं होता है कि केवली को कवलाहार होता है या नहीं, स्त्रीमुक्ति होती है या नहीं? अर्थात् तत्त्वज्ञान, विचार का बिन्दु नहीं होता है।

वैसे ही आत्मा में गुणभेद, प्रदेशभेद, द्रव्यभेद एवं कालभेद तो रहेंगे; लेकिन यदि दृष्टि के विषयभूत आत्मा को प्राप्त करना है तो इन भेदों को गौण करना होगा अर्थात् अभेद पर दृष्टि करनी होगी।

एक गाँव की सच्ची घटना है। आज से ३५ साल पहले की है। उस गाँव में दो पार्टियाँ थीं, उनमें पीढ़ियों से वैर-विरोध था, वे आपस में रिश्तेदार भी थे। एकबार जब मैं और फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री वहाँ थे, तब वहाँ एक महाराजश्री आए और उन्होंने उन पार्टियों से कहा - "जब तक तुम लोग एक नहीं होओगे, तब तक मैं आहार नहीं करूँगा।" - ऐसा कहकर वे अनशन पर बैठ गए। उन महाराजश्री से हमारी अच्छी पहचान थी। हमने उन पार्टियों को बहुत समझाया, लेकिन वे नहीं माने।

लेकिन सुबह हमने यह सुना कि वे दोनों पार्टियाँ एक हो गईं और उन्होंने महाराजश्री के पास जाकर यह कह दिया - "महाराज! हम एक हो गए हैं; अतएव आप आहार के लिए उठ जाइए।" - इसप्रकार महाराजश्री ने आहार भी कर लिया।

जब हमने उनसे पूछा की हमारे बहुत समझाने के बाद भी तुम लोग नहीं माने, फिर अचानक ये परिवर्तन कैसे हो गया? तो उनमें से एक ने कहा कि दो मिनिट का काम था, मैं विरोधी पार्टी वालों के यहाँ गया और मैंने उन्हें समझाया कि अपनी पार्टियों के दो मुख्य जन जाकर महाराजश्री से कह देते हैं कि हम एक हो गए हैं।

वास्तव में एक होना नहीं है, मात्र कहना है। हमारी लड़ाई तो विधिवत् चलेगी, लेकिन अपनी इस लड़ाई में महाराजों को, पण्डितों

को बीच में क्यों लाएँ ? हमें एक थोड़े ही होना है, हमें लड़ाई खत्म थोड़े ही करनी है, हम तो उंगठी[१] बाँध के कहेंगे।

उसीप्रकार मैं भी कहता हूँ कि भेद को गौण करके अभेद को दृष्टि का विषय बनाओ। चिन्ता मत करो, भेद तो रहेगा। उंगठी बाँध कर अभेद को दृष्टि का विषय बना लो; क्योंकि **दृष्टि का विषय अभेद ही है, भेद नहीं।**

यद्यपि भेद भी वस्तु के स्वरूप में शामिल है और अभेद भी वस्तु के स्वरूप में शामिल है; लेकिन अनुभूति, भेद के लक्ष्य से नहीं होती है।

भेद के लक्ष्य से विकल्प की उत्पत्ति होती है और अभेद के लक्ष्य से निर्विकल्प अनुभूति होती है; इसलिए इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए भेद को गौण कर दो।

अब यदि कोई कहे कि भेद को मुख्य कब करेंगे और अभेद को गौण कब करेंगे ?

उससे कहते हैं कि अरे भाई ! जब हमें विस्तार से वह बात समझनी होगी, तब अभेद को गौण करेंगे और भेद को मुख्य करेंगे।

जैसे – ऐसा कहा जाता है कि अभेद का लक्ष्य करने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होगी और यदि यही अभेद का लक्ष्य अन्तर्मुहूर्त तक कायम रहा तो केवलज्ञान की भी प्राप्ति होगी – ऐसा कहकर भेद के लक्ष्य से ही अभेद का लक्ष्य कराया।

हम सब दृष्टि के विषय में से पर्याय को निकालने के लिए इसलिए तैयार हैं; क्योंकि हमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है, पर्याय में निर्मलता प्रकट करनी है। **इसप्रकार पर्याय में निर्मलता प्रकट करने के लिए भेद की उपेक्षा है। जब पर्याय की ओर नहीं देखते हैं तो उसमें भी हमारा प्रयोजन पर्याय को शुद्ध करना ही होता है।**

१. बालकों में यह प्रसिद्ध है कि दो अंगुलियों को परस्पर एक के ऊपर एक रखकर कुछ भी कहने का असर नहीं होता। इसे ही उंगठी बाँधना कहते हैं।

लोक में भी ऐसा ही निरन्तर होता है कि जब बेटा व्यर्थ में ही अनाप-शनाप रुपया खर्च करता है तो बाप कहता है - 'अब हम तुम्हें रुपया नहीं देंगे' और बेटा पाँच रुपये भी माँगता है तो बाप उसे देने के लिए मना कर देता है। बाप सोचता है कि यदि ये ऐसे ही रुपये बर्बाद कर देगा तो इसके पास क्या बचेगा? लेकिन वह बाप उसको बाद में ५ करोड़ रुपये देने के लिए ही अभी ५ रुपये भी नहीं देता है।

गुरुदेवश्री भी अपने प्रवचन में एक प्रसंग सुनाया करते थे -

एक सेठ था और उसके बेटे ने दो लाख रुपये का नुकसान कर दिया तो वह सेठ बहुत आकुल-व्याकुल हो गया और उसने अपने बेटे से कह दिया -

"निकल जाओ घर से और मेरे घर में कभी मत आना।"

फिर गुरुदेवश्री ने उस सेठ को बुलाया और उससे पूछा -

"क्या बात है, इतने आकुल-व्याकुल क्यों हो रहे हो ?"

उसने कहा - "साहब ! इसने मेरे दो लाख रुपये बर्बाद कर दिये" - तब गुरुदेवश्री ने पूछा - किसके बर्बाद कर दिए? तुम वे रुपये इसको ही देकर जाओगे न ? ये समझ लो कि उसने दो साल पहले ले लिए। वास्तव में तो उसने अपने ही रुपये बर्बाद किए हैं।

अब यदि तुम उसे घर से बाहर निकाल दोगे तो जो रुपये तुम्हारे पास बचे हैं, वे भी बर्बाद हो जायेंगे; क्योंकि यदि तुमने उसको नहीं दिए तो बर्बाद ही हुए न !"

अब मैं पूछता हूँ - यदि वह गुस्से में अपने बेटे को निकाल भी रहा है तो वह राग की तीव्रता है या द्वेष की तीव्रता? अरे भाई! यदि पड़ौसी के बेटे ने दो लाख रुपये खो दिए हों तो गुस्सा नहीं आता है। जिससे राग होता है, यदि उसने खो दिए हों तो गुस्सा आता है; जिससे राग नहीं हो और उसने खोए हों तो गुस्सा नहीं आता है। **यह दिखता तो द्वेष है, लेकिन है राग की तीव्रता।**

पर्याय की शुद्धि के लिए ही पर्याय को दृष्टि के विषय में गौण करते हैं। यहाँ पर्याय सर्वथा गौण कहाँ हुई? 'पर्याय' की शुद्धि के लिए – इस अपेक्षा तो पर्याय मुख्य ही है।

रावण ने बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करने के लिए चन्द्रप्रभ चैत्यालय में जाकर ध्यान किया। उसने हथियार इकट्ठे करने के लिए सात दिन तक लड़ाई बन्द रखी। वह हथियार इकट्ठे करने के लिए विद्या सिद्ध करना चाहता था, न कि लड़ाई बन्द करने के लिए। उसने चन्द्रप्रभ चैत्यालय का उपयोग इस अर्थ में किया था कि मेरे हाथ में ऐसा हथियार आ जाए कि शत्रु मुझे जीत ही न पावे।

आप जानते होंगे कि जब ईराक और कुवैत की लड़ाई हुई थी तो सद्दाम हुसैन को किसप्रकार झुकाया गया था। उसने अपने निवास स्थान को इसप्रकार बना रखा था कि उस स्थान पर कितने भी बम क्यों न फेंको, वहाँ असर नहीं होगा। अतः सद्दाम को मारने के लिए कुछ इंजीनियरों और कुछ डॉक्टरों को इकट्ठा किया गया और उन्हें चौबीसों घंटे बन्द रखा गया, ताकि वे ध्यानपूर्वक विचार करके उसका उपाय खोज सकें। उन सभी ने फिर रिसर्च की और एक ऐसी चीज बनाई, जिसके माध्यम से सद्दाम हुसैन के निवासस्थान को भेदा जा सकता था।

जिसप्रकार रावण की बहुरूपिणी विद्या ध्यान से सिद्ध हुई थी, उसीप्रकार सद्दाम हुसैन भी वैज्ञानिकों और इंजीनियरों के ध्यान से ही झुका। **जैसे सद्दाम हुसैन को ध्यान के बिना नहीं झुकाया जा सका, वैसे ही कर्मों का नाश भी ध्यान के बिना नहीं हो सकता है।**

इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि भेद को गौण कर अभेद पर ध्यान रखना होगा; क्योंकि भेद के लक्ष्य से अभेद मालूम नहीं पड़ता है।

इसी संबंध में समयसार अनुशीलन का निम्नांकित कथन भी

---

१. समयसार अनुशीलन भाग-१, पृष्ठ-८०

विशेषरूप से प्रत्येक मुमुक्षु को दृष्टव्य है तथा पुनः-पुनः मनन-चिन्तन करने योग्य है।

''अपनी आत्मवस्तु के इन चार युगलों में सामान्य, अभेद, नित्य और एक - इनकी एकता द्रव्यार्थिकनय का विषय बनती है और इसीकारण इसका नाम द्रव्य है। बस यही द्रव्य, द्रव्यदृष्टि का विषय बनता है; इसमें अपनापन स्थापित होना ही सम्यग्दर्शन है।

इसके विरुद्ध अपनी आत्मवस्तु के विशेष, भेद तथा उसकी अनित्यता एवं अनेकता की पर्याय संज्ञा है और इनमें अपनापन होना ही मिथ्यादर्शन है।

द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत इस द्रव्य को ही यहाँ शुद्धद्रव्य कहा है और इसे विषय बनाने वाले नय को शुद्धनय, निश्चयनय या शुद्धनिश्चयनय कहा गया है।[१]''

यहाँ शुद्धता का अर्थ रागादिक से रहितपना नहीं है। यद्यपि शुद्धता में रागादिक नहीं हैं, तथापि **यहाँ भेद का नाम अशुद्धता तथा भेद से रहितपने का नाम शुद्धता है।** 'राग की अशुद्धि का अर्थ यहाँ इसलिए नहीं है; क्योंकि उसको तो कालभेद में रखकर पहले ही निकाल दिया गया है।'

इसप्रकार द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत जो द्रव्य है, वही द्रव्यदृष्टि का विषय है।

इसप्रकार हमारे सामने तीन द्रव्य उपस्थित हैं -

पहला तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाववाला द्रव्य।

दूसरा प्रमाण का विषयभूत द्रव्य, जिसमें गुण व पर्याय दोनों शामिल हैं।

तीसरे द्रव्य का नाम - सामान्य, एक, अभेद, नित्य और एक - इन सभी की अखण्डता ही द्रव्यदृष्टि का विषय है। इस दृष्टि के विषय में कालभेद, गुणभेद आदि पर्यायें शामिल नहीं हैं।

प्रश्न – प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय से युक्त होती है। स्वचतुष्टय के बिना वस्तु की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। जिसप्रकार **प्रत्येक वस्तु स्वयं द्रव्य है, उसके प्रदेश उसका क्षेत्र हैं, उसके गुण उसका भाव हैं; उसीप्रकार उसकी पर्यायें उसका काल हैं।** दृष्टि के विषय में गुणभेद का निषेध करके भी गुणों को अभेदरूप से रखकर 'भाव' को सुरक्षित कर लिया गया; प्रदेशभेद का निषेध करके भी प्रदेशों को अभेदरूप से रखकर 'क्षेत्र' को सुरक्षित कर लिया गया; उसीप्रकार पर्यायभेद का निषेध करके, पर्यायों को अभेदरूप से रखकर 'काल' को भी सुरक्षित कर लेना चाहिए; पर आप तो पर्यायों का सर्वथा निषेध कर वस्तु को काल से अखण्डित नहीं रहने देना चाहते हैं।

उत्तर – इसी समयसार में आगे भावना भाई गई है कि **'न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि; सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रभावोऽस्मि'**[१] न मैं द्रव्य से खण्डित हूँ, न क्षेत्र से खण्डित हूँ, न काल से खण्डित हूँ और न भाव से खण्डित हूँ; मैं तो सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ। उक्त भावना में आत्मा को द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से पूर्णतः अखण्डित रखा गया है।

दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को सामान्य, अनादि-अनंत त्रिकालीध्रुव नित्य, असंख्यातप्रदेशी-अभेद एवं अनन्तगुणात्मक-अखण्ड एक कहा गया है। इसमें जिसप्रकार सामान्य कहकर द्रव्य को अखण्ड रखा गया है, असंख्यप्रदेशी-अभेद कहकर क्षेत्र को अखण्ड रखा गया है, अनन्तगुणात्मक-अखण्ड कहकर भाव को अखण्ड कहा रखा गया है; उसीप्रकार अनादि-अनन्त त्रिकालीध्रुव नित्य कहकर काल को भी अखण्डित रखा गया है। अन्त में एक कहकर सभी प्रकार की अनेकता का निषेध कर दिया गया है।

इसप्रकार दृष्टि के विषयभूत त्रिकालीध्रुव द्रव्य में पर्यायों के अनुस्यूति

---

१. समयसार की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में २७०वें कलश के बाद का गद्यांश

से रचित प्रवाहरूप स्वकाल का निषेध नहीं किया गया है, अपितु विशिष्ट पर्यायों का ही निषेध किया गया है।

यहाँ एक बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि भूतकाल की पर्यायें तो विनष्ट ही हो चुकी हैं, भविष्य की पर्यायें अभी अनुत्पन्न हैं और वर्तमान पर्याय स्वयं दृष्टि है, जो विषयी है; वह दृष्टि के विषय में कैसे शामिल हो सकती है ? विषय बनाने के रूप में तो वह शामिल हो ही रही है; क्योंकि वर्तमान पर्याय जबतक द्रव्य की ओर न ढले, उसके सन्मुख न हो, उसे स्पर्श न करे, उससे तन्मय न हो, उसमें एकाकार न हो जाये; तबतक आत्मानुभूति की प्रक्रिया भी सम्पन्न नहीं हो सकती। इसप्रकार वर्तमान पर्याय अनुभूति के काल में द्रव्य के सन्मुख होकर तो द्रव्य से अभेद होती ही है, पर यह अभेद अन्य प्रकार का है, गुणों और प्रदेशों के अभेद के समान नहीं।

इसप्रकार दृष्टि का विषयभूत द्रव्य काल से खण्डित भी नहीं होता और उत्पन्नध्वंसी विशेष पर्याय दृष्टि के विषय में शामिल भी नहीं होती।

प्रवचनसार की ९९वीं गाथा की आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका नामक टीका में प्रदेशों की अखण्डता को वस्तु की समग्रता और परिणामों की अखण्डता को वृत्ति की समग्रता कहा है। तथा दोनों के व्यतिरेकों को क्रमशः प्रदेश और परिणाम कहकर प्रदेशों के क्रम का कारण अर्थात् विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक है और प्रवाहक्रम का कारण परिणामों (पर्यायों) का परस्पर व्यतिरेक है – ऐसा कहा है।

उक्त तथ्य की गहराई में जाने से एक बात स्पष्ट होती है कि यदि विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का व्यतिरेक है और प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का व्यतिरेक है तो प्रदेशों और परिणामों का अन्वय – अनुस्यूति से रचित विस्तार और प्रवाह; क्षेत्र और काल की समग्रता (अखण्डता) का कारण होना चाहिए। इसप्रकार यह सहज ही फलित

होता है कि वस्तु की समग्रता क्षेत्र की अखण्डता है और वृत्ति की समग्रता काल की अखण्डता है। तात्पर्य यह है कि प्रदेशों में सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित विस्तार ही क्षेत्र की अखण्डता है और पर्यायों में सर्वदा परस्पर अनुभूति से रचित प्रवाह ही काल की अखण्डता है।

इसप्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि प्रवाह की निरन्तरता को भी नित्यता कहते हैं, क्योंकि नित्यता और अनित्यता में काल की अपेक्षा ही मुख्य है। अत: नित्य का अर्थ, 'वस्तु की सदा उपस्थिति' मात्र इतना ही अभीष्ट नहीं है, अपितु इसमें प्रवाह की निरन्तरता भी सम्मिलित है। यह नित्यता ही काल की अखण्डता है, जो दृष्टि के विषयभूत द्रव्य का अभिन्न अंग है।

इसमें कहा गया है कि पर्यायें काल हैं और हमने **काल को दो भागों में विभाजित किया है, एक का नाम कालभेद और दूसरी का नाम काल-अभेद।**

जिसप्रकार हम किसी एक गुण को ग्रहण करते हैं तो वह गुणभेद कहलाता है और अनन्त गुणों को एक साथ अभेदरूप से ग्रहण करना, उसका नाम गुणों का अभेद है।

प्रदेशों में भी किसी एक प्रदेश को ग्रहण करना, उसका नाम प्रदेशभेद है और असंख्य प्रदेशों को एक साथ अभेदरूप से ग्रहण करना, वह प्रदेश-अभेद है।

उसीप्रकार काल तो अनादि-अनन्त है, उस काल में से एक खण्ड को ग्रहण करने का नाम, कालभेद है और काल की अखण्डता को ग्रहण करने का नाम काल-अभेद है। यह जो त्रिकाली कहा जाता है, वह काल का अभेद ही है।

'त्रिकाली' का अर्थ तीन काल नहीं है, अपितु तीनों कालों के अभेद का नाम त्रिकाली है।

यदि किसी से पूछा जाय कि पर्याय नित्य है कि अनित्य तो सभी

कह देंगे कि अनित्य है। अब मैं आपसे फिर पूछता हूँ कि जब पर्याय अनादि काल से अनन्तकाल तक विद्यमान रहती है, तब आप कैसे कह सकते हैं कि पर्याय अनित्य है? इसके उत्तर में आप ऐसा भी कह सकते हैं कि वे पर्यायें तो नई-नई आ रही हैं; क्योंकि वे प्रतिसमय बदल रही हैं।

जिसप्रकार बहते हुए पानी को नदी कहा जाता है, यदि वह पानी बह नहीं रहा है तो वह झील हो सकता है, समुद्र हो सकता है, तालाब हो सकता है, बांध हो सकता है, कुंआ हो सकता है, लेकिन वह नदी नहीं हो सकता है। **बहते हुए पानी का नाम नदी है। जो नित्य बहे, उसका नाम नदी है, जो कभी-कभी बहे, उसका नाम नदी नहीं है।**

जैसे नदी का 'बहना' **अनित्यता** है, वैसे ही नदी का हमेशा बहते रहना नदी की **'नित्यता'** है।

उसीप्रकार जो द्रव्य है, वह परिणमनशील भी है और अपरिणामी भी है।

अरे भाई ! वह परिणमन अनादिकाल से अनंतकाल तक एक समय भी नहीं रुकता है; इसलिए वह परिणमन नित्य ही है अर्थात् उसकी अनित्यता भी नित्य ही है।

यहाँ अनित्य का अर्थ ऐसा है जो 'कभी हो' और 'कभी न भी हो' और नित्य का अर्थ है जो 'सदा हो।'

इसके लिए मैं 'गंगा' नदी का उदाहरण देता हूँ; क्योंकि अन्य नदियाँ तो कभी-कभी बहना बन्द कर देती हैं; लेकिन गंगा नदी कभी नहीं रुकती। जब बरसात होती है, तब बरसात के पानी से गंगा बहती है, सर्दी के दिनों में भी वह प्रवाह सूखता नहीं है और गर्मियों में बर्फ पिघलती है तो उस बर्फ के पानी से गंगा बहती है, इसप्रकार गंगा नदी का प्रवाह एक समय भी अवरुद्ध नहीं होता है।

इसीप्रकार द्रव्य का प्रवाह भी अनादिकाल से लेकर अनंतकाल

तक एक समय भी अवरुद्ध नहीं होता है; इसीलिए तो हम ऐसा कहते हैं –

भगवान ! आपकी नित्यता तो नित्य है ही, आपकी अनित्यता भी नित्य है अर्थात् आपकी नित्यता तो अनन्त है ही, आपकी अनित्यता भी अनन्त है।

'अनित्यता के अनन्त' का तात्पर्य यह है कि उस अनित्यता का कभी अंत नहीं आएगा।

अब यदि कोई पूछे कि वह अनित्यता मोक्ष जाने पर भी रहेगी कि नहीं ? ये अनित्यता जैसे अभी प्रतिसमय बदल रही है तो मोक्ष जाने पर प्रतिसमय बदलेगी या नहीं ? अर्थात् सिद्ध होने पर नित्य बदलेगी कि नहीं ?

अरे भाई ! यद्यपि प्रतिसमय बदलना अनित्यता है, लेकिन ये उसका नित्य स्वभाव है, अनित्य स्वभाव नहीं है। यह अनित्यता तो वस्तु के स्वरूप में ही है।

आत्मा में जो एक अनित्य नाम का धर्म है, वह अनित्य नहीं है, अपितु नित्य ही है। नित्य धर्म के समान अनित्य धर्म भी नित्य ही है।

जैसे आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुण नित्य हैं। वैसे ही अनित्य नाम का धर्म भी नित्य है।

इसप्रकार अनित्य नाम का धर्म भी नित्य होने से दृष्टि के विषय में शामिल है। इसप्रकार अनित्यधर्म और नित्यधर्म – इनकी अखण्डता दृष्टि के विषय में शामिल है।

यदि उस अनित्य धर्म में नित्यत्व नहीं घटता तो वह दृष्टि के विषय में शामिल नहीं हो सकता था; लेकिन अनित्य धर्म में नित्यत्व घटित होता है; इसलिए 'अनित्य' धर्म भी दृष्टि के विषय में शामिल है।

यद्यपि यह विषय बहुत सरल है और बहुत सहज भी है; लेकिन राई की ओट में पहाड़ के समान कठिन है। यदि हम इस विषय को

बिल्कुल खुले दिमाग से समझने का प्रयास करेंगे, तो ही यह विषय हमारी समझ में आयेगा।

'सातवीं गाथा में दृष्टि के विषय में पर्याय का निषेध किया है' – ऐसा सुनकर कई लोग कहते हैं कि आप तो हमें यह बता दो कि दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल है या नहीं ?

अरे भाई ! इसका जवाब इतना सहज नहीं है। यह एक सैकेण्ड का काम नहीं है। इस विषय का समझना आकुलता में नहीं हो सकता। कहा भी जाता है कि **यह धीरों का काम है, उतावलियों का काम नहीं है।** इस विषय पर अभी बहुत विचार करने की आवश्यकता है।

इसीप्रकार कई लोग कहते हैं कि 'समयसार अनुशीलन' की जरूरत नहीं है। वे समयसार अनुशीलन को बिना पढ़े ही कह देते हैं कि समयसार अनुशीलन की आवश्यकता नहीं है।

अरे ! मुझे इस विषय को (दृष्टि का विषय) समयसार अनुशीलन में लिखे हुए आठ साल हो गए हैं, लेकिन किसी को कुछ पता ही नहीं है। बहुत कम लोगों को यह बात ख्याल में है। ऐसा देखकर मुझे ऐसा लगता है कि समयसार अनुशीलन के अनुशीलन की भी आवश्यकता है।

'न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि' – यह कथन जब बोला जाता है तो लोग समझते हैं कि 'यह तो मंत्र है, बस बोलने की चीज है। जैसे – पूजन में 'छिन्द-छिन्द, भिन्द-भिन्द' बोला जाता है, वैसे ही प्रतिक्रमण में **'न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि.....'** यह तो बोला जाता है। ये तो बोलने की चीजें हैं, इन्हें समझने की क्या जरूरत है ?

इसीप्रकार लोगों ने 'णमोकार मंत्र' के बारे में भी धारणा बना रखी है कि 'णमोकार मंत्र' तो बोलने की चीज है, उसे समझने की क्या जरूरत है।

'णमोकार मंत्र' विषय को लेकर २००-३०० पेज की किताब

लिखी जाती है, लेकिन उसमें यह नहीं लिखा जाता है कि अरिहंत किसे कहते हैं? सिद्ध किसे कहते हैं? अपितु उसमें यह लिखा रहता है कि 'णमोकार मंत्र' पढ़ने से कुंआ में पानी आ गया था, अंजन चोर को विद्या सिद्ध हो गई थी। अरे भाईसाहब! हमें णमोकार मंत्र की किताब से यह नहीं जानना है कि 'णमोकार मंत्र' से क्या हुआ था?

णमोकार मंत्र में अरहंतादि को नमस्कार किया गया है, तो उस किताब में भी अरंहतादिक के स्वरूप पर वर्णन किया जाना चाहिए। यदि २०० पेज की किताब लिखने के बजाय १०० पेज भी अरहंतादिक के स्वरूप पर लिखे जाते हैं तो वे उस किताब से ज्यादा श्रेष्ठ हैं।

ऐसा कहा जाता है कि सिद्धचक्र विधान करने से श्रीपाल का कोढ़ दूर हो गया था। मैं इस कथानक पर प्रश्नचिह्न खड़ा नहीं करना चाहता हूँ, करोड़ों वर्ष पुरानी बात है। हुआ था या नहीं हुआ था? यह कोई सिद्ध नहीं कर सकता है। आगम का आधार छोड़कर न तो कोई यह सिद्ध कर सकता है कि श्रीपाल का कोढ़ दूर हुआ और न यह सिद्ध कर सकता है कि नहीं हुआ था।

मैं हमेशा अपने विद्यार्थियों से कहता हूँ कि समाज में ऐसा कभी मत कहना कि 'श्रीपाल का कोढ़ दूर नहीं हुआ था' क्योंकि ऐसा कहने से तुम परेशानी में आ जाओगे।

यदि कोई यह कहे कि 'श्रीपाल का कोढ़ दूर हो गया था' तो मैं उनसे कहता हूँ कि ठीक है, तुम्हारी बात शत-प्रतिशत सही है; लेकिन सिद्धचक्र विधान का आयोजन तो अभी भी हो सकता है तथा इस दुनिया में कोढ़ी भी बहुत हैं, यदि टी.वी. पर किसी एक भी कोढ़ी का रोग दूर करके बता दें तो मैं सारी दुनिया में जैनधर्म फैला दूँगा।

ईसाईयों ने अपना धर्म इसीप्रकार ही तो फैलाया है। उन्होंने मिशन के अस्पताल खोल कर बीमारों का इलाज किया और मिशन के स्कूल खोलकर पढ़ाने का काम किया - इसप्रकार लाखों लोगों को ईसाई

बना लिया। जिनको हम पढ़ने का अधिकार नहीं देते थे, मन्दिर में नहीं आने देते थे; उन्हें उन लोगों ने पढ़ाया। जिनको हम अस्पताल में नहीं घुसने देते थे अर्थात् जिनकी हम दवा नहीं करते थे, उन्होंने उनकी दवा की। इसप्रकार उन्होंने सारी दुनिया पर अपना प्रभाव फैला दिया।

भारत में जितने भी ईसाई हैं, वे यहीं के हैं, हमारे भाई-बहिन ही हैं; विदेश से नहीं आये हैं। वे इन्हीं मिशन के विद्यालयों और अस्पतालों के कारण परिवर्तित हुए हैं।

यदि उक्त प्रयोग द्वारा टी.वी. पर कोढ़ ठीक होने का इलाज एक बार दिखा दिया जाये तो सारे विश्व में जैनधर्म फैल जायेगा। फिर **यदि कोढ़ ठीक होता है तो जुकाम, कैन्सर, हार्ट आदि का इलाज क्यों नहीं होगा ?**

अरे भाई ! णमोकार मंत्र की किताब में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु - इनके स्वरूप का वर्णन होना चाहिए। उसमें इस बात का वर्णन होना चाहिए कि जैनियों के भगवान कर्त्ता-धर्त्ता नहीं हैं। जबकि उस किताब में भगवान के नाम पर लिख देते हैं कि भगवान ने यह किया, भगवान ने वह किया। सीता के अग्नि कुण्ड में कमल बना दिया, द्रोपदी का चीर बढ़ा दिया।

अब यदि उनसे पूछो कि किस भगवान ने यह सब किया ? तो वे तत्काल कह देंगे कि भगवान महावीर ने। अरे भाई ! जब सीता थी, तब महावीर भगवान पैदा ही नहीं हुए थे। जब द्रोपदी का चीरहरण हुआ था, तब महावीर भगवान थे ही नहीं।

मैंने सम्मेदशिखर पर एक ३२ पेज की किताब लिखी है, बहुत लोकप्रिय भी हुई; लेकिन मैंने जब सम्मेदशिखर पर एक अन्य २०० पेज की किताब देखी, तब मुझे बहुत आश्चर्य हुआ; क्योंकि उसमें सिर्फ यही लिखा था कि कोई व्यक्ति सम्मेदशिखर गया और उसका यह रोग दूर हो गया, एक महाराष्ट्र का सेठ गया, उसका वह हो गया

और यहाँ तक लिख देते हैं कि वे पार्श्वनाथ भगवान की टोंक पर गए और उनका मोक्ष हो गया। हार्ट के मरीज होते हैं, वे ऊपर पहाड़ पर चढ़ते हैं और मर जाते हैं तो कहते हैं कि उनकी बहुत अच्छी मौत हुई है, क्या ये अच्छी मौत हुई है ?

अरे ! मैं यह कहता हूँ कि यदि हार्ट के मरीज थे तो उन्हें श्री पार्श्वनाथ के टोंक पर जाना ही नहीं था।

उस किताब में महिमा मंडित करते हुए यह भी लिखा है कि वे तो महान हैं, जिनकी वहाँ से मृत्यु हुई, निश्चितरूप से स्वर्ग गए होंगे। मैं कहता हूँ कि इन बातों में कोई दम नहीं है, जिसने कभी आत्मा का नाम नहीं सुना हो, जो आत्मा की बात नहीं जानते हों; उनके अन्तसमय में परिणाम कैसे सुधर सकते हैं ?

अरे ! वे तो घबराहट में, अपने बीबी-बच्चों की चिन्ता में मरे होंगे तो उन्हें स्वर्ग कैसे हुआ होगा? जैसे प्रथमानुयोग में वे सेठ, पानी के कारण मेढ़क हो गये थे, वैसे ही उनका भी हुआ होगा।

यदि वे हार्ट के मरीज थे तो वहाँ उन्हें पर्वत पर नहीं जाना चाहिए था, उन्होंने गलती की है, हिम्मत नहीं। जो वस्तुस्थिति है, उस वस्तुस्थिति को समझना चाहिए। यदि शरीर में ताकत नहीं थी तो नहीं जाना चाहिए था। हार्ट का मरीज यदि सम्मेदशिखर के पर्वत पर जाएगा तो उसके मरण की संभावना ही अधिक है और ऐसे समय में उसके परिणाम विशुद्ध नहीं रह सकते हैं और विशुद्ध परिणामों के अभाव में उसे स्वर्ग की प्राप्ति कैसे होगी ?

वास्तव में यदि सम्मेदशिखर के संबंध में कोई किताब लिखी जाती है तो उसमें सम्मेदशिखर की झूठी महिमा का वर्णन न होकर सम्मेदशिखर के यथार्थ स्वरूप का वर्णन होना चाहिए।

इसीप्रकार णमोकार मंत्र की किताबों में भी अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु - इनके स्वरूप का वर्णन किया जाना चाहिए।

जिसप्रकार णमोकार मंत्र बोलने के साथ-साथ समझने की चीज है; उसीप्रकार 'न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि - यह मात्र बोलने की चीज नहीं है अपितु दृष्टि का विषय समझने के लिए यह समझना भी अत्यन्त आवश्यक है।

दृष्टि के विषय को समझे बिना न तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है और न सम्यग्ज्ञान की, आत्मा का ध्यान भी संभव नहीं है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मूलाधार तो दृष्टि का विषयभूत भगवान आत्मा ही है। उसके आश्रय बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती है तो आगे की बात ही क्या करें?

निश्चयरत्नत्रय की उत्पत्ति, वृद्धि और पूर्णता का एकमात्र आधार यह दृष्टि का विषयभूत भगवान आत्मा ही है। अतः इसे अवश्य जानें; इसमें ही सार है, शेष सब संसार है। ●

परमागम आगम का ही अंश है, जिसे अध्यात्म भी कहते हैं। अध्यात्म में रंग, राग और भेद से भी भिन्न परमशुद्धनिश्चयनय व दृष्टि के विषयभूत एवं ध्यान के ध्येयरूप, परमपारिणामिकभाव-स्वरूप त्रैकालिक व अभेदस्वरूप निजशुद्धात्मा को ही जीव कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सभी भावों को अनात्मा, अजीव, पुद्गल आदि नामों से कह दिया जाता है। इसका एकमात्र प्रयोजन दृष्टि को पर, पर्याय व भेद से भी हटाकर निज शुद्धात्मतत्त्व पर लाना है; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता निजशुद्धात्मतत्त्व के आश्रय से ही होती है।

अध्यात्मरूप परमागम का समस्त कथन इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर होता है। **- परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-१०३**

छठवाँ प्रवचन

समयसार परमागम की छठवीं-सातवीं गाथा के आधार से इस विषय पर चर्चा चल रही है कि दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल है या नहीं और पर्याय शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है ?

इस संबंध में शिष्य का प्रश्न है कि आपने गुणभेद का निषेध करके भी गुणों को रखकर भाव को अखण्डित कर लिया, द्रव्यभेद का निषेध करके भी द्रव्य को रखकर अथवा सामान्य को रखकर द्रव्य को अखण्डित कर लिया, प्रदेश भेद का निषेध करके भी प्रदेशों को अभेदरूप से रखकर क्षेत्र को भी सुरक्षित कर लिया; लेकिन पर्यायों को निकाल कर काल को खण्डित कर दिया, जबकि इसी समयसार में आगे ऐसा कहा गया है कि – **न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि, सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रभावोऽस्मि।**[१]

इसलिए पर्यायभेद का निषेध कर पर्यायों को अभेदरूप से रखकर काल को भी सुरक्षित करना चाहिए था, लेकिन आपने पर्याय को शामिल न करके दृष्टि के विषय को काल से खण्डित कर दिया है।

इसका उत्तर देने से पूर्व मैं एक बात और भी बताना चाहता हूँ कि सर्वत्र प्राय: यह देखा जाता है कि गुण और गुणभेद की चर्चा ही ज्यादा होती है, प्रदेश व प्रदेशभेद की चर्चा बहुत कम होती है; लेकिन मैंने पूर्व प्रकरण में इन सभी की समानरूप से चर्चा की है।

प्रदेशभेद की चर्चा न होने के कारण यह है कि गुणों के लक्षण तो अलग-अलग हैं, इसलिए उनमें तो लक्षणभेद है; जबकि प्रदेशों के लक्षण अलग-अलग नहीं हैं, सभी प्रदेशों का एक ही लक्षण है।

जैसे ज्ञानगुण जानने का काम करता है, दर्शन गुण देखने का

---

१. समयसार की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में २७०वें कलश के बाद का गद्यांश

काम करता है; ऐसा लक्षणभेद प्रदेशों में नहीं है तथा प्रदेशों का कार्य भी अलग-अलग नहीं है।

पहले जो तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर जैन संघ, मथुरा से प्रकाशित होता था। उसके अन्त में ५९ प्रश्नोत्तर थे, उन प्रश्नों को धवला आदि के आधार से पण्डितश्री फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री ने लिखा था।

उनमें एक प्रश्न यह भी था कि चक्षु-इन्द्रियावरणकर्म का क्षयोपशम आत्मा के किन प्रदेशों में होता है ? आँख से हम देखते हैं तो आँख में जो आत्मा के प्रदेश हैं, उनमें ही चक्षु-इन्द्रियावरणकर्म का क्षयोपशम होना चाहिए; क्योंकि दिखाई तो आँख से ही देता है। यदि क्षयोपशम सर्वांग होता हो तो शरीर के सभी अंगों से दिखाई देना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर उसमें इसप्रकार लिखा है कि **चक्षु-इन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम आत्मा के समस्त प्रदेशों में ही है।**

शंका – यदि समस्त प्रदेशों में चक्षु-इन्द्रियावरणकर्म का क्षयोपशम है तो आत्मा को सभी जगह से देखना चाहिए ?

समाधान – वहाँ चक्षु-इन्द्रिय नहीं है, इसलिए नहीं देख सकते।

शंका – इसका मतलब तो यह है कि आत्मा पराधीन हो गया; क्योंकि आत्मा में क्षयोपशम तो है, लेकिन वह आँख नहीं होने से देख नहीं सकता ?

इस शंका का बहुत सुन्दर समाधान प्रस्तुत कर वहाँ समझाया गया है कि आत्मा के बीच के आठ प्रदेशों को छोड़कर बाकी के सभी प्रदेश घूमते रहते हैं। जैसे शरीर में खून घूमता रहता है या एक मिनिट में ७२ बार हृदय धड़कता रहता है, वैसे ही आत्मा के प्रदेश निरन्तर तेजी से घूमते ही रहते हैं, यदि मात्र चक्षु-इन्द्रियवाले प्रदेशों में ही चक्षु-इन्द्रियावरणकर्म का क्षयोपशम मानेंगे तो वे प्रदेश तो घूमने के कारण पैर में पहुँच जाते हैं और पैरवाले प्रदेश चक्षु-इन्द्रिय के पास पहुँच जाते

हैं, फिर उस समय आत्मा को नहीं दिखना चाहिए; लेकिन उस समय भी आत्मा को दिखता है। इसका तात्पर्य यह है कि **क्षयोपशम सर्वांग प्रदेशों में रहता है।**

आत्मा के सभी प्रदेश घूमते हैं, लेकिन बीच के जो आठ प्रदेश हैं, वे नहीं घूमते हैं। बीच के आठ प्रदेशों के नहीं घूमने का अर्थ यह है कि उनमें स्थान परिवर्तन नहीं होता। लेकिन वे प्रदेश भी अपने स्थान पर रहते हुए वहीं के वहीं घूमते रहते हैं।

यदि बीच के आठ प्रदेश नहीं घूमें तो आत्मा अखण्ड नहीं रह सकता है; क्योंकि यदि बीच के आठ प्रदेश नहीं घूमेंगे और अन्य प्रदेश तेजी से घूमेंगे तो फिर जो प्रदेश वहाँ से जुड़ा हुआ है, वह टूट जायेगा।

अत: वे प्रदेश घूमते भी हैं और नहीं भी घूमते हैं। **वे अपने स्थान पर ही चक्कर लगाते हैं, इसलिए घूमते भी हैं और उनका वहाँ से स्थान परिवर्तन नहीं होता है, इसलिए वे नहीं घूमते – ऐसा भी कहा जाता है।**

अब **प्रश्न** उपस्थित होता है कि बीच का तो एक ही होता है, बीच के आठ कैसे हो सकते हैं ?

इनका **समाधान** यह है कि जिसप्रकार यदि दो अंगुलियाँ हों तो उनमें बीच की अंगुली हो ही नहीं सकती है। यदि तीन अंगुलियाँ हों तो एक अंगुली बीच की होती है और यदि चार अंगुलियाँ हों तो फिर दो अंगुलियों को बीच का कहना पड़ेगा; इसीप्रकार यदि अगल-बगल और ऊपर-नीचे सभी ओर से लगायेंगे तो आठ से कम प्रदेशों को बीच का नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि यदि उससे कम को बीच का कहेंगे तो एक ओर ज्यादा हो जायेंगे और एक ओर कम।

आत्मा के सभी प्रदेश समसंख्या में हैं, यदि विषमसंख्या में होते तो एक को बीच का कहा जा सकता है।

समसंख्या में यदि पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे – इन

छह दिशाओं में बांटे तो आठ प्रदेशों से कम प्रदेशों को बीच का नहीं कहा जा सकता है।

इसप्रकार आठ प्रदेशों को छोड़कर आत्मा के समस्त प्रदेश ऊपर से नीचे घूमते रहते हैं। अब **यदि मात्र चक्षु-इन्द्रिय के प्रदेशों को छोड़कर सभी प्रदेशों में चक्षु-इन्द्रियावरणकर्म का क्षयोपशम नहीं होता तो फिर प्रदेशों के घूमते रहने के कारण आत्मा को नहीं दिखता।**

इस चर्चा से मैं यह कहना चाहता हूँ कि जैसा गुणों में लक्षणभेद और कार्यभेद हैं; वैसा प्रदेशों में न तो लक्षणभेद है और न ही कार्यभेद है। आत्मा के समस्त असंख्य प्रदेशों में क्षयोपशम तथा केवलज्ञान भी सब जगह एकसा एक साथ ही होता है।

सुख के संबंध में ऐसा नहीं होता है कि मात्र दिमाग के प्रदेशों में ही अतीन्द्रिय आनन्द आता हो। **जब सम्यग्दर्शन होता है, तब आत्मा के सर्वांग प्रदेशों में अर्थात् असंख्य प्रदेशों में अतीन्द्रिय आनन्द का झरना झरता है।**

इसीकारण प्रदेशभेद की चर्चा आजकल नहीं होती है। सब जगह गुणभेद की ही चर्चा होती है।

प्रवचन के आरंभ में किये गये प्रश्न का उत्तर इसप्रकार है –

दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को सामान्य, अनादि-अनन्त-त्रिकाली ध्रुव नित्य, असंख्यातप्रदेशी-अभेद एवं अनंतगुणात्मक-अखण्ड, एक कहा गया है। इसमें जिसप्रकार सामान्य कहकर **द्रव्य को अखण्ड रखा गया है,** असंख्यातप्रदेशी-अभेद कहकर **क्षेत्र को अखण्ड रखा गया है** और अनंतगुणात्मक अखण्ड कहकर **भाव को अखण्ड रखा गया है;** उसीपकार अनादि-अनन्त, त्रिकाली ध्रुव, नित्य, कहकर काल को भी अखण्डित रखा गया है। **अन्त में एक कहकर सभी प्रकार की अनेकता का निषेध कर दिया गया है।**

इसप्रकार दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव द्रव्य में स्वकाल का

निषेध नहीं किया गया है; अपितु विशिष्ट पर्यायों का ही निषेध किया गया है।[१]

उपर्युक्त कथन में आत्मा को **द्रव्य की अपेक्षा सामान्य, काल की अपेक्षा अनादि-अनन्त त्रिकाली ध्रुव नित्य, क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी और भाव की अपेक्षा अनंतगुणात्मक अखण्ड कहा गया है।**

इसमें जो भी बाद में 'एक' कहा है, उसके माध्यम से उक्त सभी प्रकार की अनेकता का निषेध कर दिया गया है।

अन्त में जो 'एक' कहा है, वह भाव वाली अनेकता का निषेध करने के लिए नहीं, अपितु चारों प्रकार की अनेकता का निषेध करने के लिए कहा है; क्योंकि भाव की अनेकता का निषेध करने के लिए तो अखण्ड कहा है और क्षेत्र की अनेकता का निषेध करने के लिए अभेद कहा है, द्रव्य की अनेकता का निषेध करने के लिए सामान्य कहा है और काल की अनेकता का निषेध करने के लिए त्रिकाली ध्रुव नित्य कहा है।

अन्त में जो यह कहा गया है कि 'इसप्रकार दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव द्रव्य में स्वकाल का निषेध नहीं किया गया है, अपितु विशिष्ट पर्यायों का ही निषेध किया गया है', उसका अर्थ यह है कि काल के दो पक्ष होते हैं एक अनित्यता और दूसरा नित्यता अर्थात् विशिष्ट पर्याय और पर्यायों का अभेद, सामान्य।

वहाँ दृष्टि के विषय में अभेद सामान्य का निषेध नहीं किया गया है; अपितु विशिष्ट पर्यायों का ही निषेध किया गया है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान - ये विशिष्ट पर्यायें हैं और इन विशिष्ट पर्यायों का दृष्टि के विषय में निषेध है। केवलज्ञान भी विशिष्ट पर्याय होने से दृष्टि के विषय में शमिल नहीं है।

लेकिन दृष्टि के विषय में निगोद से लेकर मोक्ष तक की समस्त पर्यायों का अभेद शामिल है, उस अभेद का नाम काल का अभेद है

---

१. समयसार अनुशीलन, भाग १, पृष्ठ-७६

और काल का अभेद होने से वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है, इसलिए उस अभेद का नाम द्रव्य है, पर्याय नहीं। पर्याय तो उसके अंश का नाम है, भेद का नाम है।

अब कोई कहे कि दृष्टि के विषय में आपने अभेद के रूप में पर्याय को शामिल कर लिया ?

अरे भाई ! जो अभेद के रूप में काल को शामिल किया है, उसका नाम द्रव्य है, पर्याय नहीं।

यदि काल के अभेद के शामिल होने से किसी को पर्याय शामिल होना लगती है तो उसने पर्याय का वास्तविक स्वरूप ही नहीं समझा; क्योंकि पर्यायार्थिकनय के विषय को पर्याय कहा जाता है और द्रव्यार्थिकनय के विषय को द्रव्य कहा जाता है।

भगवान आत्मा के समस्त प्रदेशों के अलग-अलग नाम नहीं हैं। लेकिन जिसप्रकार गुणों के अलग-अलग नाम हैं, उसीप्रकार पर्यायों के भी अलग-अलग नाम हैं। जैसे – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञान आदि।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञान आदि नाम सापेक्ष नाम हैं; क्योंकि इनमें कर्म की अपेक्षा है। जैसे – मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान हो, उसका नाम मतिज्ञान है। वास्तव में ज्ञान सामान्य में कोई अन्तर नहीं है।

ज्ञान में जो इतने भेद हैं; वे भेद तो कर्म की अपेक्षा हैं, ज्ञेय की अपेक्षा हैं। इतिहास को जाननेवाले ज्ञान को इतिहास का ज्ञान कहते हैं और भूगोल को जाननेवाले ज्ञान को भूगोल का ज्ञान कहते हैं। इतिहास और भूगोल तो ज्ञेय हैं। **ज्ञेय के भेद से ज्ञान में भेद खड़ा करना – उसका नाम तो व्यवहार है।** वास्तव में ज्ञान तो ज्ञान है, ज्ञान में कोई भेद नहीं है। ज्ञान तो जैसा है, वैसा ही है। ज्ञान ने जिस ज्ञेय को जाना, उस ज्ञेय की अपेक्षा से हम ज्ञान में भेद खड़ा कर देते हैं।

इसप्रकार केवलज्ञान विशिष्ट पर्याय है, इसलिए वह दृष्टि के विषय में शामिल नहीं है। दृष्टि के विषय में विशिष्ट पर्याय का ही निषेध है, काल के अभेद का निषेध नहीं।

मैं बार-बार 'काल के अभेद' शब्द का ही प्रयोग कर रहा हूँ; क्योंकि यदि ऐसा कहता हूँ कि 'पर्यायों के अभेद' दृष्टि के विषय में शामिल है तो लोगों को ऐसा लगता है कि दृष्टि के विषय में पर्याय को शामिल कर लिया है।

अरे भाई ! पर्यायों का अभेद तो द्रव्यार्थिकनय का विषय होने से द्रव्य है, पर्याय नहीं। इसप्रकार पर्यायों का अभेद अथवा काल का अभेद दृष्टि के विषय में शामिल है।

इसी संबंध में समयसार अनुशीलन का निम्न कथन दृष्टव्य है –

"भूतकाल की पर्यायें तो विनष्ट हो चुकी हैं, भविष्य की पर्यायें अभी अनुत्पन्न हैं और वर्तमान पर्याय स्वयं दृष्टि है, जो विषयी है; वह दृष्टि के विषय में कैसे शामिल हो सकती है ?

विषय को बनाने के रूप में तो वह शामिल हो ही रही है; क्योंकि वर्तमान पर्याय जबतक द्रव्य की ओर न ढले, उसके सन्मुख न हो, उसे स्पर्श न करे, उससे तन्मय न हो, उसमें एकाकार न हो जाये; तबतक आत्मानुभूति की प्रक्रिया भी सम्पन्न नहीं हो सकती।

इसप्रकार वर्तमान पर्याय अनुभूति के काल में द्रव्य के सन्मुख होकर तो द्रव्य से अभेद होती ही है, पर यह अभेद अन्य प्रकार है, गुणों और प्रदेशों के अभेद के समान नहीं।[१]"

सभी पर्यायें पर्यायार्थिकनय का विषय होने से दृष्टि के विषय में शामिल नहीं हैं; लेकिन जो पर्यायों का अभेद अर्थात् काल की अखण्डता है, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय होने से दृष्टि के विषय में शामिल है।

---

१. समयसार अनुशीलन, भाग १, पृष्ठ-७६-७७

विषय बनाने के रूप में विशिष्ट पर्याय को भी दृष्टि के विषय में शामिल करते हैं। इसी संबंध में ऐसा कहा भी जाता है कि दृष्टि अन्तर्मुख हो गई।

एक उदाहरण भी दिया जाता है कि जो बिजली का तार होता है, उसमें करंट तबतक नहीं आता है, जबतक वह पावर हाऊस (करंट के घर) को स्पर्श नहीं करेगा।

उसीप्रकार जबतक पर्याय द्रव्य को स्पर्श नहीं करेगी, तबतक पर्याय में केवलज्ञान नहीं होगा। स्वभाव में तो सर्वज्ञत्व शक्ति पड़ी हुई है, लेकिन जबतक पर्याय, उस स्वभाव का स्पर्श नहीं करेगी तो उसमें केवलज्ञान कहाँ से आएगा ? इस अपेक्षा से पर्याय दृष्टि के विषय में शामिल है अर्थात् दृष्टि के विषय में मिली हुई है।

पर्याय ने स्वभाव का आश्रय लिया, इसलिए पर्याय दृष्टि के विषय में शामिल है – यह भी एक अपेक्षा है।

प्रश्न – पाटनी गोत्र की लड़की की यदि कासलीवाल गोत्र के लड़के से शादी हुई तो लड़की कासलीवाल हुई या नहीं ?

उत्तर – अरे भाई ! उनकी दोनों ही अपेक्षाएँ हैं। वह लड़की कासलीवाल हो भी गई और नहीं भी, यदि उसे पाटनी की लड़की की दृष्टि से देखेंगे तो वह पाटनी भी है और कासलीवाल की पत्नी की दृष्टि से देखेंगे तो वह कासलीवाल भी है; इस संबंध में कभी समस्या उत्पन्न नहीं होती है कि वह कासलीवाल है या पाटनी ? लेकिन दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल है या नहीं ? – इस संबंध में सभी को समस्या है।

अरे भाई ! जब पर्याय, उस द्रव्य को १. ज्ञान का ज्ञेय बना रही है, २. श्रद्धा का श्रद्धेय बना रही है, जब सारे गुण, ३. आत्मसन्मुख हो गये हैं, सारी ४. पर्यायें आत्मसन्मुख हो गई हैं तथा आत्मा का ५. अतीन्द्रिय आनन्द का झरना भी पर्यायों में फूट पड़ा है और उस आनन्द में कहीं ६. अन्तराल भी नहीं अर्थात् आनन्द की अखण्ड धारा पर्याय में बह रही है।

जब पर्याय ने उस द्रव्य के प्रति अपने आपको इतना समर्पित कर दिया है तो फिर पर्याय को द्रव्य में शामिल होने के लिए और क्या करना है ?

जिसप्रकार सोनिया गांधी ने भरी सभा में घोषणा कर दी कि 'मैं कांग्रेसी हूँ; क्योंकि मैं कांग्रेस में शामिल हो गई हूँ।' अब यदि कोई कहे कि 'नहीं-नहीं, वे कांग्रेसी नहीं हैं।' तो मैं पूछता हूँ कि 'वे कांग्रेसी होने के लिए अब और क्या करें ?' जब सोनिया गांधी ने इटली की नागरिकता छोड़ दी है और भारत की नागरिकता ग्रहण कर ली है तथा भारतीय संस्कृति के अनुसार अन्य वस्त्रों की अपेक्षा साड़ी पहनना भी शुरू कर दिया है तो मैं पूछता हूँ कि 'भारतीय बनने के लिए वे और क्या करें ?'

उसीप्रकार पर्याय द्रव्य में शामिल होने के लिए द्रव्य के साथ एकाकार तक हो गई तथा उसने **अपना नाम तक बदल लिया अर्थात् पर्याय ने अपना स्वर भी ऐसा कर लिया कि मैं द्रव्य हूँ, मैं आत्मा हूँ, मैं त्रिकाली ध्रुव अनादि-अनंत, अखण्ड हूँ। वह पर्याय ऐसी भाषा बोलने लगी कि –**

'अहमेक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदारूवी।'[१]

अब मैं आपसे पूछता हूँ कि पर्याय द्रव्य में शामिल होने के लिए और क्या करे ? **अरे भाई ! विषय बनाने की अपेक्षा 'पर्याय' दृष्टि के विषयभूत द्रव्य में शामिल ही है।**

इसप्रकार के प्रयोग साहित्य में भी आते हैं कि – राधा ने कृष्ण का चिंतवन किया और और चिंतन करते-करते वह कृष्णमय हो गई तथा वह ऐसा महसूस करने लगी कि मैं कृष्ण हूँ और कृष्ण के कपड़े भी पहन लिये। कृष्ण भी राधा का चिंतवन करते थे, बार-बार राधा का ही ध्यान करते थे तो कृष्ण को ऐसा लगने लगे कि मैं राधा हूँ और उन्होंने राधा की साड़ी पहिन ली। अब पता ही नहीं चलता कि कौन राधा है

१. समयसार, गाथा ३८

और कौन कृष्ण है ? क्योंकि राधा कृष्ण के भावमय हो गई व कृष्ण राधा के भावमय हो गए।

अब यहाँ कोई कहे कि साहब ! आप समयसार की चर्चा में बेमतलब ही राधा-कृष्ण को ला रहे हैं। अरे भाई ! यह मैं नहीं कह रहा हूँ, पण्डित बनारसीदासजी ने भी नाटक समयसार में कुब्जा और राधा संबंधी अनेकों छन्द लिखे हैं।

शंका – उदाहरण में दोनों तरफ से एकत्व है, क्या ऐसा द्रव्य-पर्याय में भी है ? क्या वहाँ भी पर्याय द्रव्यमय और द्रव्य पर्यायमय हो गये – ऐसा कह सकते हैं ?

जिसप्रकार वह राधा कृष्णमय हो गई और कृष्ण राधामय हो गये; उसीप्रकार वह पर्याय भी द्रव्यमय हो गई।

यदि पर्याय, द्रव्यमय नहीं हो तो पर्याय में केवलज्ञान ही नहीं होवे। उपयोग की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है और उपयोग पर्याय है।

अब यदि वह उपयोग (पर्याय) त्रिकाली ध्रुव में अभेद-एकाकार नहीं हो तो आत्मा का ध्यान नहीं होगा। इन दोनों के बीच में यदि थोड़ी भी सांध रहेगी तो आत्मा का ध्यान नहीं होगा।

समयसार नाटक में एक दोहा आता है –

"सतरंज खेलै राधिका, कुबिजा खेलै सारि।
याकै निसिदिन जीतवौ, वाकै निसिदिन हारि।।१।।[१]

राधिका अर्थात् सुबुद्धि शतरंज खेलती है, इसमें उसकी सदा जीत होती है और कुब्जा अर्थात् दुर्बुद्धि चौपड़ खेलती है, इससे उसकी हमेशा हार होती है।"

अगर किसी से पूछा जाये कि शतरज और चौपड़ में क्या अन्तर है?

---

१. समयसार नाटक, पृष्ठ २८४

शतरंज में अपनी बुद्धि काम करती है अर्थात् आप घोड़ा या हाथी, जहाँ भी चलना हो, वहाँ चल सकते हैं; सबकुछ बुद्धि पर निर्भर है। लेकिन चौपड़ में सबकुछ पासे पर निर्भर है, यदि पासे चलने पर चार आए तो चार घर चलो और छह आ जाये तो छह घर चलो। दूसरों के हाथ में बाजी देना, जड़ पासों के हाथ में बाजी देना; उसका नाम चौपड़ है तथा अपने हाथ में ही बाजी रखना; उसका नाम है शतरंज। **मैं अपनी आत्मा का अनुभव स्वयं करूँगा, इसका नाम है शतरंज खेलना और कर्म के उदय से होगा, इसका नाम चौपड़ खेलना है।**

इसलिए मैं कहता हूँ कि शतरंज खेलनेवाले से दिन-रात जीतते ही रहते हैं, कभी हारते नहीं हैं। शतरंज खेलनेवालों में दोनों ही पक्ष जीतते हैं, उन दोनों में कोई भी नहीं हारता है; क्योंकि दोनों ही बुद्धि का प्रयोग करते हैं, लेकिन चौपड़ में जीतनेवाला भी हारता है; क्योंकि वहाँ बुद्धि की नहीं, भाग्य की चलती है।

इसप्रकार नाटक समयसार में और भी छन्द हैं –

"जाके उर कुबिजा बसै, सोई अलख अजान।
जाकै हिरदै राधिका, सो बुध सम्यक्वान।।[१]

जिसके हृदय में कुब्जा अर्थात् कुबुद्धि का वास है, वह जीव अज्ञानी है और जिसके हृदय में राधिका अर्थात् सुबुद्धि है, वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है।"

आगे और भी कहा है –

"मूरख के घट दुरमति भासी। पण्डित हिये सुमति परगासी।
दुरमति कुबिजा करम कमावै। सुमति राधिका राम रमावै।।[२]

मूरख के हृदय में कुबिजा उपजती है और ज्ञानियों के हृदय में सुमति का प्रकाश रहता है। दुर्बुद्धि कुब्जा के समान है, नवीन कर्मों का बंध कराती है और सुबुद्धि राधिका है, आत्माराम में रमण कराती है।"

१. समयसार नाटक, पृष्ठ २८४ २. वही, पृष्ठ २७८-२७९

इसप्रकार नाटक समयसार में बनारसीदासजी ने १०-२० छन्द लिखे हैं। वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए परमत के उदाहरण भी दिए जाते हैं। मैंने भी 'द्रव्य में पर्याय शामिल हो गई है' – यह समझाने के लिए राधा-कृष्ण का उदाहरण दिया है।

हमारे महाविद्यालय का एक विद्यार्थी पर्यूषण पर्व में प्रवचन हेतु दिल्ली गया था तो वहाँ किसी एक भाई ने उससे कहा कि डॉक्टर साहब से यह कहना कि उन्होंने एक किताब में यह गलत लिखा है कि पहले के जमाने में जब मन्दिर अंधेरे में होते थे तो गर्भगृह में भगवान के दर्शन करने के लिए जानेवाले लोग 'दीपक' लेकर जाते थे और वहाँ पर कीटाणु न हो जाये और वायु की शुद्धि के लिए 'धूप' जलाते थे; लेकिन अब तो सब खुला हो गया है, दीपक और धूप जलाने की जरूरत नहीं है – ऐसा कहने से धूप व दीपक के जलाने की सिद्धि होती है; इसलिए उनसे यह कहना कि वे उस किताब में यह अंश निकाल देवें।

अरे भाई ! उसमें तो उदाहरण के रूप में अजैनियों के मंदिर की चर्चा की है कि उनके यहाँ ऐसा होता था, वह जैनियों की चर्चा नहीं है। उसके बाद मैंने यह भी लिखा है कि अब तो सब खुला हो गया है; इसलिए न तो दीपक की जरूरत है और न धूप की जरूरत है।

इसप्रकार उसमें यह लिखा है कि धूप व दीपक जलाने की जरूरत नहीं है। मन्दिर का जो उदाहरण दिया, वह तो उदाहरण के तौर पर है। उदाहरण तो अजैनियों के भी दिए जाते हैं। जैन साहित्य में पण्डित टोडरमलजी, पण्डित बनारसीदासजी तथा आचार्यों ने भी अजैनियों के उदाहरण दिए हैं। सिद्धचक्रविधान में भी बहुत उदाहरण हैं।

अतएव किसी बात को समझाने के लिए अजैनियों के उदाहरण देना अनुचित नहीं है। ●

सातवाँ प्रवचन

समयसार परमागम की छठवीं-सातवीं गाथा के आधार पर यह चर्चा चल रही है कि 'दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल है या नहीं?'

दृष्टि के विषय के संबंध में समयसार अनुशीलन का निम्न कथन दृष्टव्य है -

"प्रवचनसार की ९९वीं गाथा की आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्व-प्रदीपिका नामक टीका में **प्रदेशों की अखण्डता को वस्तु की समग्रता और परिणामों की अखण्डता को वृत्ति की समग्रता कहा है** तथा दोनों के व्यतिरेकों को क्रमशः **प्रदेश** और **परिणाम** कहकर, विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक और प्रवाहक्रम का कारण परिणामों (पर्यायों) का परस्पर व्यतिरेक है - ऐसा कहा है।

उक्त तथ्य की गहराई में जाने से एक बात स्पष्ट होती है कि यदि विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का व्यतिरेक और प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का व्यतिरेक है तो क्षेत्र और काल की समग्रता (सम्पूर्णता) का कारण प्रदेशों और परिणामों का अन्वय अर्थात् अनुस्यूति से रचित विस्तार और प्रवाह होना चाहिए।

इसप्रकार यह सहज ही फलित होता है कि **वस्तु की समग्रता, क्षेत्र की अखण्डता है और वृत्ति की समग्रता, काल की अखण्डता है।**

तात्पर्य यह है कि **प्रदेशों में सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित प्रवाह, क्षेत्र की अखण्डता है** और **परिणामों में सर्वतः परस्पर अनुस्यूति से रचित प्रवाह, काल की अखण्डता है।**[१]"

उक्त कथन में प्रत्येक शब्द, अलग-अलग व्याख्या की अपेक्षा रखता है। वस्तु - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमय होती है।

---

१. समयसार अनुशीलन, भाग-१, पृष्ठ ७७

वस्तु में दो चीजें होती हैं - एक का नाम है विस्तारक्रम और दूसरी का नाम है प्रवाहक्रम।

विस्तारक्रम, क्षेत्र की अपेक्षा से होता है और प्रवाहक्रम, काल की अपेक्षा से होता है।

आत्मा के असंख्यात प्रदेशों को इसप्रकार फैला दें कि एक प्रदेश में दूसरा प्रदेश न रहे तो वे प्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैल जायेंगे।

केवली समुद्घात में जो लोकपूरण दशा होती है, उसमें लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर आत्मा का एक-एक प्रदेश रहता है अर्थात् जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं, उतने ही एक आत्मा के प्रदेश हैं; आत्मा लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है।

लोकाकाश में जो असंख्यात प्रदेश हैं अर्थात् तीनों लोक में जो ऊपर-नीचे, अगल-बगल में प्रदेश हैं, उन प्रदेशों का स्थान अनादि काल से निश्चित है और अनन्तकाल तक निश्चित रहेगा।

एक भी प्रदेश, एक इंच भी इधर-उधर नहीं हिलेगा तथा उन प्रदेशों में एक प्रदेश के छहों तरफ कौन-कौन से प्रदेश रहेंगे, यह भी निश्चित है।

आप सभी को ज्ञात होगा कि **परमाणु की रचना षट्कोणमय होती** है तथा षट्कोणमय रचना होने से जगह बिल्कुल भी खाली नहीं रहती है अर्थात् दो परमाणु के बीच में स्थान बिल्कुल भी खाली नहीं होता है।

जिसप्रकार परमाणु के छह तरफ से छह परमाणु चिपक सकते हैं; उसीप्रकार आत्मा के प्रदेशों में भी एक प्रदेश को छह प्रदेश घेरे हुए हैं; क्योंकि प्रदेशों की रचना भी षट्कोणमयी ही होती है।

आत्मा के वे प्रदेश, अनादिकाल से अनन्तकाल तक उसी स्थिति में रहेंगे; चाहे वे प्रदेश, सम्पूर्ण लोकाकाश में फैल जायें या वे छोटे शरीर में आकर सिमट जायें।

जिसप्रकार रूमाल में जो धागे रहते हैं; वे अगल-बगल से एक

निश्चित क्रम में रहते हैं। रूमाल को हम चाहे जैसा भी घुमाते रहें फिर भी उन धागों का क्रम भंग नहीं होता है अर्थात् क्रम बदलता नहीं है।

इसप्रकार प्रदेशों का एक निश्चित क्रम है और उसी क्रम में वे रहते हैं अर्थात् उन प्रदेशों का एक व्यवस्थित क्रम है और वह क्रम अनादिकाल से है और अनन्त काल तक रहेगा, उसे कभी बदला नहीं जा सकता है।

लोकाकाश के प्रदेशों के समान आत्मा के प्रदेशों का भी निश्चित क्रम है। जब आत्मा के प्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैल जाते हैं; तब भी आत्मा के प्रदेशों का क्रम वही का वही रहता है और वह क्रम कभी बदला नहीं जा सकता है; इसे ही **विस्तारक्रम** कहते हैं।

जिसप्रकार विस्तारक्रम में प्रदेशों के स्थान को बदला नहीं जा सकता है, उसीप्रकार प्रवाहक्रम में पर्याय को निश्चित समय से बदला नहीं जा सकता है।

जिसप्रकार प्रदेशों का क्रम सुनिश्चित है; उसीप्रकार अनादिकाल से लेकर अनन्तकाल तक जितने समय हैं, उनमें प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय, एक-एक समय में खचित है; **न तो यह संभव है कि कल की पर्याय को आज ले आएँ या आज की पर्याय को कल ले जाएँ।**

इसप्रकार आचार्य अमृतचन्द ने विस्तारक्रम से प्रवाहक्रम को सिद्ध किया है।

यदि किताब में से बाद के एक पेज को आगे लाना हो, तो फाड़कर लाना पड़ेगा, पेज फाड़ने से फिर वह किताब अखण्ड नहीं रहेगी।

यदि द्रव्य के एक प्रदेश को दूसरी जगह से हटाना हो तो द्रव्य के टुकड़े करने पड़ेंगे। टुकड़े करने से वस्तु अखण्ड नहीं रहेगी; जबकि वस्तु उसे कहते हैं, जो अखण्ड हो अर्थात् जिसके खण्ड नहीं हो सकें। **अतएव प्रदेशों को एक जगह से दूसरी जगह बदला नहीं जा सकता।**

जिसप्रकार विस्तारक्रम में यह नियम है कि एक प्रदेश को दूसरी जगह नहीं बदला जा सकता; उसीप्रकार प्रवाहक्रम में भी यह नियम है

कि एक पर्याय को कभी भी दूसरी जगह बदला नहीं जा सकता।

जैसे - किसी जीव की सिद्धपर्याय, एक लाख वर्ष बाद हो और वह अभी लाना चाहता हो तो वह सिद्धपर्याय के स्वकाल में से उस सिद्धपर्याय को निकालेगा तो एक कट तो वहाँ लग जाएगा और जहाँ पर भी लाना चाहेगा, वहाँ पर भी एक कट लग जाएगा।

यदि एक पर्याय को समय से पहले कोई स्थानांतरित करना चाहेगा तो **आत्मा की अनादि-अनन्तता खण्डित हो जायेगी; जबकि वस्तु उसे कहते हैं, जो अखण्ड रहती है। अतएव पर्याय को आगे-पीछे करके कभी भी बदला नहीं जा सकता है।**

यदि किसी जीव की एक लाख वर्ष बाद आने वाली सिद्धपर्याय को यदि कोई शीघ्र लाना चाहेगा तो सिद्धपर्याय आने के बाद संसारपर्याय कभी आती नहीं है; इसलिए अभी से लेकर एक लाख वर्ष तक की संसारपर्यायों का क्या होगा? सिद्धपर्याय लाने के लिए उन्हें खत्म करना पड़ेगा। यदि उन्हें खत्म किया तो उतना द्रव्य खण्डित हो जाएगा।

जैसे नौ मीटर की धोती में से बीच में से यदि एक मीटर धोती का भाग निकाल दिया जाता है तो वह आठ मीटर रह जाएगी और बीच में एक जोड़ लग जावेगा।

उसीप्रकार यदि आत्मा में से संसार की उतने समय की पर्यायें निकाली गईं तो आत्मा काल से खण्डित हो जाएगा, उतना छोटा हो जायेगा, अनादि-अनन्त नहीं रहेगा और उसमें एक जोड़ लग जायेगा।

जिसप्रकार वस्तु में क्षेत्र की अखण्डता होती है, काल की अखण्डता होती है; उसीप्रकार वस्तु में गुणों की भी अखण्डता होती है।

४७ शक्तियों के प्रकरण में गुरुदेवश्री कहते थे कि 'एक गुण का रूप दूसरे गुण में है', वह गुणों की अखण्डता का सबसे बड़ा हेतु है। यदि एक गुण का रूप दूसरे गुण में न हो, तो गुण बिखरकर अलग-अलग हो जायेंगे।

यदि ज्ञानगुण में अस्तित्व गुण का रूप नहीं हो तो ज्ञानगुण का अस्तित्व ही नहीं रहेगा, फिर ज्ञान गधे के सींग के समान हो जायेगा।

यदि अस्तित्व गुण में प्रमेयत्वगुण का रूप नहीं हो तो अस्तित्व गुण, जाना ही नहीं जा सकेगा।

यदि ज्ञानगुण, अनन्तगुणों में व्याप्त नहीं होगा तो फिर पूरा आत्मा ज्ञानी कैसे होगा? यदि ज्ञानगुण, अनन्तगुणों में व्याप्त नहीं हो तो फिर ज्ञानगुण ही चेतन होगा, आत्मा के शेष गुण अचेतन रहेंगे; क्योंकि ज्ञान-दर्शन को ही चेतना कहा जाता है, इसलिए गुणभेद इष्ट नहीं हैं।

यदि गुणभेद को सर्वथा स्वीकार करते हैं तो बाकी के समस्त गुण अचेतन हो जाते हैं; क्योंकि वह चेतनता उनमें से अलग हो गई।

चीनी में से यदि मिठास निकल जाए तो चीनी न तो खारी होगी न मीठी होगी। यदि उस चीनी में रस नहीं रहेगा तो वह कुछ भी नहीं होगी। वैसे ही यदि आत्मा से चेतनगुण निकल गया तो बाकी के गुण भी अचेतन हो जायेंगे।

इसप्रकार वस्तु में क्षेत्र की अखण्डता, काल की अखण्डता के साथ-साथ गुणों की अखण्डता भी होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने यहाँ पर काल की अखण्डता को समझाने के लिए प्रदेश की अर्थात् क्षेत्र की अखण्डता का उदाहरण दिया है। यहाँ 'काल की अखण्डता' यह सिद्धान्त है और 'प्रदेश की अखण्डता' यह उदाहरण है। हम लोग मात्र किस्सा कहानी को उदाहरण समझते हैं।

ध्यान रहे, यह नियम है कि १. उदाहरण सरल होना चाहिए तथा सिद्धान्त कठिन होना चाहिए। २. उदाहरण लोकप्रसिद्ध होना चाहिए तथा सिद्धान्त अप्रसिद्ध होना चाहिए। ३. उदाहरण स्थूल होना चाहिए तथा सिद्धान्त सूक्ष्म होना चाहिए।

उदाहरण सरल नहीं हो और सूक्ष्म हो तो उदाहरण को ही समझाने में परेशानी आ जायेगी और सिद्धान्त तो एक तरफ रखा रह जाएगा; अतएव उदाहरण सरल होना चाहिए।

उदाहरण लोकप्रसिद्ध होना चाहिए अर्थात् वादी और प्रतिवादी दोनों को मान्य होना चाहिए। वादी और प्रतिवादी दोनों को जो मान्य है, वह उदाहरण है तथा जो अकेला वादी को मान्य है, प्रतिवादी को नहीं; वह सिद्धान्त है।

उदाहरण लोकप्रसिद्ध होने से प्रतिवादी को मान्य होगा; तभी वह सिद्धान्त मानेगा। यदि प्रतिवादी उदाहरण को ही नहीं माने तो फिर सिद्धान्त एकतरफ रखा रह जाएगा और उदाहरण ही बहस का मुद्दा बन जाएगा।

जिसप्रकार हम कहते हैं कि जैसे गाय, अपने बछड़े से प्यार करती है, वैसे हमें भी धर्मात्मा से प्रेम होना चाहिए। यदि प्रतिवादी को यह स्वीकार ही नहीं हो कि गाय बछड़े से प्यार करती है तो फिर यह सिद्धान्त उसे कैसे स्वीकार होगा कि हमें भी धर्मात्मा जीवों से प्रेम होना चाहिए।

यदि प्रतिवादी को यह बात स्वीकार हो कि गाय को अपने बछड़े से प्यार होता है, तभी प्रतिवादी को यह बात समझाई जा सकती है कि धर्मात्मा जीवों के भी आपस में प्रेम होना चाहिए।

इसलिए उदाहरण के संबंध में यह कहा जाता है कि उदाहरण लोकप्रसिद्ध होना चाहिए।

यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने भी काल की अखण्डता को समझाने के लिए प्रदेश की अखण्डता का उदाहरण चुना; क्योंकि वह सरल है। प्रदेशों के विस्तारक्रम को सभी लोग समझते हैं।

यहाँ 'सभी' से तात्पर्य जैनधर्म को माननेवालों से है।

यह उदाहरण, सरल इस अर्थ में भी है कि सभी लोगों को जैसी इच्छा, पर्याय का क्रम पलटने की होती है, वैसी इच्छा, प्रदेशों को पलटने की नहीं होती है।

आज तक कभी भी किसी को यह विकल्प नहीं आया कि जयपुर

को दिल्ली के स्थान पर ले जाएँ अथवा अलवर का स्थानान्तरण करके उसे जयपुर की जगह पर ले आएँ। हम जयपुर का नाम अलवर और अलवर का नाम जयपुर तो रख सकते हैं या दिल्ली के पास नया जयपुर तो बना सकते हैं या हम उनका नाम तो बदल सकते हैं; लेकिन उनका स्थान नहीं बदल सकते हैं।

जब क्षेत्र को बदलने के बारे में किसी को कोई विकल्प नहीं होता है तो फिर पर्याय को बदलने के बारे में विकल्प क्यों उत्पन्न होता है?

हमें पर्याय को बदलने की इच्छा इसलिए होती है; क्योंकि आत्मा के प्रदेश (क्षेत्र) के पलटने से कोई बिगाड़-सुधार नहीं है अर्थात् यदि मस्तक में स्थित आत्मा के प्रदेश, पैर में चले जाए या पैर में स्थित प्रदेश, मस्तक में आ जायें तो हमें कोई दुःख नहीं होता है; इसलिए प्रदेशों के कारण कोई बिगाड़-सुधार नहीं है।

चूँकि पर्याय में बिगाड़-सुधार होता है अर्थात् कोई पर्याय, हमें दुःखमय लगती है और कोई पर्याय सुखमय लगती है, इसलिए पर्याय को बदलने की इच्छा होती है। लेकिन पर्याय को बदला नहीं जा सकता है। पर्याय के संबंध में जो हमारा अज्ञान है, उसे तो बदला जा सकता है; लेकिन पर्याय को नहीं। इसप्रकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने **विस्तारक्रम से प्रवाहक्रम का स्वरूप समझाया।**

विस्तारक्रम अर्थात् क्षेत्र का क्रम। विस्तार का अर्थ, क्षेत्र या फैलाव होता है और इस फैलाव में एक निश्चित क्रम है, उसे बदला नहीं जा सकता है।

जैसे रूमाल को मोड़ने पर रूमाल के प्रदेशों में कोई फर्क नहीं आता है, वैसे ही मनुष्य की आत्मा को यदि चीटीं के शरीर में भी जाना पड़े तो भी आत्मा के प्रदेशों के क्रम में कोई अन्तर नहीं आएगा।

जिसप्रकार विस्तार के क्रम को 'क्षेत्र' कहते हैं, उसीप्रकार प्रवाह के क्रम को 'काल' कहते हैं। जिसप्रकार क्षेत्र से भगवान आत्मा अखण्ड

है, उसीप्रकार काल से भी भगवान आत्मा अखण्ड है।

यदि हम लोगों को यह बात समझ में आ जाय कि 'काल से भगवान आत्मा अखण्ड है' तो फिर हम पर्याय को पलटने की बात सोचेंगे ही नहीं; क्योंकि उसमें पलटाव हो ही नहीं सकता है।

यह बात सुनकर बहुत लोग कहते हैं कि फिर हमारे पुरुषार्थ का क्या होगा ?

अरे भाई ! जिस दिन तुम्हें यह बात समझ में आएगी उस दिन ही सच्चा पुरुषार्थ प्रकट होगा। अभी तो पुरुषार्थ के नाम पर जो कुछ तुम कर रहे हो, वह सब तो नरक-निगोद में डालनेवाला, संसार में घुमानेवाला पुरुषार्थ है। असली पुरुषार्थ तो उस दिन प्रकट होगा, जिस दिन हम यह स्वीकार करेंगे कि भगवान आत्मा, काल से भी अखण्ड है अर्थात् पर्याय में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

इसप्रकार प्रदेशों की अखण्डता को 'विस्तारक्रम' कहते हैं और वह प्रदेशों की अखण्डता द्रव्यार्थिकनय का विषय है। वे सभी प्रदेश अनादि-अनन्त और अखण्ड हैं। अखण्ड होने के बावजूद भी उनको अलग-अलग जाना जा सकता है। यदि उनको अलग-अलग नहीं जाना जा सकता होता तो हमने यह कैसे जाना कि उन प्रदेशों की संख्या असंख्य है, अनन्त नहीं। वे सभी अखण्ड होने के साथ, जुदे-जुदे भी हैं। यद्यपि वे जुदे हो नहीं सकते हैं, तथापि वे जुदे-जुदे हैं – यह पर्यायार्थिकनय की दृष्टि है।

प्रदेशों की तरह गुण भी जुदे नहीं हो सकते हैं; लेकिन वे भी जुदे-जुदे हैं। **अलग-अलग नहीं होना – यह द्रव्य की पहचान है और अलग-अलग होना – यह पर्याय की पहचान है।**

गुण को, प्रदेश को, काल के खण्ड को – इन सभी को पर्याय कहते हैं; क्योंकि यह सब पर्यायार्थिकनय के विषय हैं।

क्षेत्र की अखण्डता को व्यक्त करने के लिए आत्मा को असंख्य

प्रदेशी कहा जाता है। असंख्यप्रदेशी शब्द एक अखण्ड वस्तु का बोध कराता है तथा जब असंख्य प्रदेश कहा जाता है, तब वह भेद का बोध कराता है।

निश्चय से भगवान आत्मा में असंख्यप्रदेश नहीं है, वह असंख्यप्रदेशी है; भगवान आत्मा में अनन्तगुण नहीं हैं, आत्मा अनन्तगुणमय है।

यदि अनुभव में अलग-अलग प्रदेश ख्याल में आते हैं तो आत्मा का अनुभव नहीं होगा, अपितु विकल्पों की ही उत्पत्ति होगी; अनन्तगुण अलग-अलग ख्याल में आएँ तो भी आत्मा का अनुभव नहीं होगा, अपितु विकल्पों की उत्पत्ति होगी; यदि अलग-अलग पर्यायें भी अनुभव में या ख्याल में आती हैं, तब भी आत्मा का अनुभव नहीं होगा, अपितु विकल्पों की ही उत्पत्ति होगी। **प्रदेश, गुण और पर्याय – तीनों के साथ एक ही नियम काम कर रहा है।**

जब १. क्षेत्र संबंधी भेद का विकल्प, २. काल संबंधी भेद का विकल्प, ३. द्रव्य संबंधी भेद का विकल्प और ४. भाव संबंधी भेद का विकल्प – ये सभी विकल्प नहीं होते हैं, तब वह अनुभूति का काल है। उस समय जो द्रव्य, दृष्टि का विषय बनता है; वही द्रव्यार्थिकनय का विषयरूप द्रव्य है।

प्रवचनसार की ९९वीं गाथा की आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्व प्रदीपिका नामक टीका में प्रदेशों की अखण्डता को वस्तु की समग्रता और परिणामों की अखण्डता को वृत्ति की समग्रता कहा है।

तथा दोनों के व्यतिरेकों को क्रमशः प्रदेश और परिणाम कहकर विस्तारक्रम का कारण, प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक और प्रवाहक्रम का कारण, परिणामों (पर्यायों) का परस्पर व्यतिरेक है - ऐसा कहा है।

उक्त तथ्य की गहराई में जाने से एक बात स्पष्ट होती है कि यदि विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का व्यतिरेक है और प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का व्यतिरेक है तो प्रदेशों और परिणामों का अन्वय-अनुस्यूति

से रचित विस्तार और प्रवाह; क्षेत्र व काल की समग्रता (अखण्डता) का कारण होना चाहिए।

इसप्रकार यह सहज ही फलित होता है कि वस्तु की समग्रता क्षेत्र की अखण्डता है और वृत्ति की समग्रता काल की अखण्डता है।

तात्पर्य यह है कि प्रदेशों में सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक क्षेत्र की अखण्डता है और पर्यायों में सर्वदा परस्पर अनुस्यूति से रचित प्रवाह ही काल की अखण्डता है।

व्यतिरेक का अर्थ होता है अंश, टुकड़े-टुकड़े, खण्ड आदि भिन्न-भिन्नपना। जैसे अखण्ड वस्तु का अंश खण्ड है अर्थात् अखण्ड वस्तु का व्यतिरेक खण्ड है। इसप्रकार **वस्तु की समग्रता के व्यतिरेक को प्रदेश और परिणामों की समग्रता के व्यतिरेक को पर्याय कहा जाता है।**

परिणामों की समग्रता के व्यतिरेक को **पर्याय** कहते हैं, लेकिन मात्र यह पर्याय पर्यायार्थिकनय के विषय वाली पर्याय नहीं है; क्योंकि पर्यायार्थिकनय के विषयवाली पर्याय में तो प्रदेशों का व्यतिरेक भी शामिल है, गुणों का व्यतिरेक भी शामिल है। जबकि इस पर्याय में मात्र काल का व्यतिरेक ही आता है।

समझने में परेशानी यह है कि दोनों का नाम ही पर्याय है, दोनों को ही पर्याय कहा जाता है। पर्याय का व्युत्पत्ति परक अर्थ देखने योग्य है। व्युत्पत्ति से परि+आय=जो चारों तरफ से भेद को प्राप्त हो, उनका नाम पर्याय है। इसकारण **गुण, प्रदेश, विशेष, परिणाम या भाव आदि सभी पर्यायें हैं।**

अभी जो यह कहा था कि 'यदि विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का व्यतिरेक है और प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का व्यतिरेक है तो प्रदेशों और परिणामों का अन्वय अनुस्यूति से रचित विस्तार और प्रवाह; क्षेत्र और काल की समग्रता (अखण्डता) का कारण होना चाहिए।'

यहाँ पर 'प्रदेशों के अन्वय' का तात्पर्य अनुस्यूति से रचित विस्तार है और 'परिणामों के अन्वय' का तात्पर्य अनुस्यूति से रचित प्रवाह है।

जिसप्रकार विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का व्यतिरेक है तो प्रदेशों का अन्वय क्षेत्र की समग्रता (अखण्डता) का कारण होना चाहिए। उसीप्रकार प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का व्यतिरेक है, तो परिणामों का अन्वय काल की समग्रता (अखण्डता) का कारण होना चाहिए।

दस नयों में जो एक अन्वयद्रव्यार्थिकनय है, उस अन्वयद्रव्यार्थिकनय का विषय यही अन्वय है।

अन्वय, द्रव्यार्थिकनय का विषय है और व्यतिरेक, पर्यायार्थिकनय का विषय है तथा उस द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत अन्वय में गुणों का अन्वय, प्रदेशों का अन्वय और पर्यायों का अन्वय - सभी का अन्वय शामिल है, व्यतिरेक किसी का भी शामिल नहीं है।

दृष्टि के विषय में काल का अन्वय शामिल है, काल का व्यतिरेक शामिल नहीं है; भाव का अन्वय शामिल है, भाव का व्यतिरेक शामिल नहीं है; क्षेत्र का अन्वय शामिल है, क्षेत्र का व्यतिरेक शामिल नहीं है।

इस विषय को समझने के लिए चित्त की एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता है, इसके लिए चित्त का अन्वय आवश्यक है; यदि चित्त व्यतिरेकों में उलझा हुआ है तो विषय समझ में नहीं आएगा।

मैं एक सही घटना बताता हूँ। मेरे एक श्रोता थे, जो प्रवचन के बाद हमेशा भजन बोला करते थे। बारह महीने वे ही भजन बोला करते थे तथा उनकी डायरी हमेशा उनके साथ रहती थी। उनको हमेशा यही विकल्प रहता था कि कब पण्डितजी का प्रवचन समाप्त हो और मैं भजन बोलूँ तथा उन्हें यह भी विकल्प रहता था कि कहीं दूसरा शुरू नहीं कर दे, कभी-कभी तो ऐसा भी होता था कि मैंने थोड़ी साँस ली

तो उन्हें लगता कि प्रवचन समाप्त हो गया है और वे भजन बोलना शुरू कर देते थे।

एक दिन मैंने उन्हें अकेले में अपने पास बुलाया और प्रेम से समझाया कि "मैं आपसे एक निवेदन करना चाहता हूँ कि आप भजन बोलना बन्द कर दें।"

तो उन्होंने कहा कि "यदि आपको भजन अच्छे नहीं लगते तो मैं नहीं बोलूँगा।"

मैंने कहा कि "यह बात नहीं है, मुझे आपके भजन तो इतने अच्छे लगते हैं कि यदि आप रात भर भी सुनाओगे, तो भी मैं नहीं सोऊँगा। बोलते-बोलते तुम थक जाओगे, लेकिन मैं नहीं थकूँगा; क्योंकि आपके भजन अध्यात्म से भरे हुए हैं।"

जब वे ये दौलतरामजी के, भूधरदासजी के भजन बिना गाजे-बाजे के शांतिपूर्वक बोलते तो मुझे बहुत अच्छे लगते थे।

फिर उन्होंने पूछा कि –

"जब आपको मेरे भजन इतने अच्छे लगते हैं तो फिर आप मुझे बोलने से मना क्यों करते हैं ?"

तब मैंने कहा कि – "आपको बोलने से इसलिए मना करता हूँ; क्योंकि जब मैं विषय समझाता हूँ तो आपकी समझ में कुछ भी नहीं आता है। आपको पूरे प्रवचन के समय में भजन बोलने का विकल्प ही निरन्तर बना रहता है। यदि आप भजन बोलना भी चाहते हैं तो ऐसा सोच लें कि यदि मुझे भजन बोलने का अवसर मिला तो बोल लूँगा, नहीं तो दूसरा व्यक्ति बोल लेगा; लेकिन आप प्रवचन सुनते समय यह विकल्प मत रखो कि मुझे भजन बोलना है।"

प्रवचन के पहले मेरे पास बहुत से लोग आते हैं और एक पर्चा देते हुए कहते हैं कि "साहब! ये सूचना दे देना।"

तो मैं हमेशा उनसे कहता हूँ कि "जब मेरा प्रवचन समाप्त हो जाय, तब मुझे याद दिलाना; क्योंकि मैं एक घण्टे तक अर्थात् अपने प्रवचन के समय यह बोझ अपने माथे पर लेकर नहीं बैठ सकता; क्योंकि मेरा उपयोग विषय के प्रतिपादन में रहता है।"

ये जो व्यवस्थापक लोग होते हैं, इन लोगों का उपयोग हमेशा व्यवस्था में ही लगा रहता है। इसलिए मैं कहता हूँ कि धर्म के क्षेत्र में अकेले व्यवस्थापक किसी को नहीं बनना चाहिए, आत्मा के कल्याण की भावना प्रमुख रहनी चाहिए। यदि १० करोड़ का प्रोजेक्ट खड़ा हो जाय और आत्मा समझ में नहीं आए तो वह प्रोजेक्ट कुछ काम नहीं आएगा। यदि आत्मा समझ में आ गया तो वही अगले भव में काम आएगा। अतः व्यवस्थापकों को आत्मकल्याण की भावना को ऊर्ध्व रंखना चाहिए।

गुरुदेवश्री की भी एक प्रतिज्ञा थी कि चाहे कुछ भी कार्यक्रम हो, चाहे पंचकल्याणक हो या विधान; उनके दो समय के प्रवचन का समय निश्चित रहता था और उन प्रवचनों के समय में उन्हें कोई फेरबदल तथा किसी की भी अनुपस्थिति स्वीकार नहीं होती थी।

सौधर्म इन्द्र, भगवान के माता-पिता, अध्यक्ष, मंत्री-सभी की प्रवचन के ५ मिनिट पहले उपस्थिति आवश्यक थी, यदि कोई समय पर नहीं आता तो पूरा प्रवचन उसी पर होता था।

गुरुदेवश्री का यह नियम इसलिए था; क्योंकि पंचकल्याणक की सारी चीजें प्रवचन के लिए ही हैं। पंचकल्याणक के लिए प्रवचन नहीं है, प्रवचन के लिए पंचकल्याणक है। पंचकल्याणक में भगवान की दिव्यध्वनि, देशनालब्धि में निमित्त होती है; ऐरावत हाथी आदि आत्मदर्शन में निमित्त नहीं होते हैं।

बहुत समय पहले ऐसा होता था कि यदि प्रवचन करना हो तो नाटक करके भीड़ इकट्ठी की जाती थी; लेकिन आज गुरुदेवश्री के प्रताप से इसका उल्टा हो गया है। आज यदि नाटक करना हो तो पहले

प्रवचन रख दो, भीड़ इकट्ठी हो जाएगी। पहले नाटक भीड़ के आकर्षण के कारण थे; किन्तु आज प्रवचन भीड़ के आकर्षण के कारण बन गए हैं – यह तो हमारा परम सौभाग्य है।

लेकिन सौभाग्य के साथ एक दुर्भाग्य भी रहता है और वह यह कि पहले प्रवचन साध्य होते थे और नाटकों को हम साधन के रूप में प्रयोग करते थे; लेकिन **आज नाटक साध्य हो गए हैं और प्रवचन उनके साधन हो गए हैं।**

पंचकल्याणकों में इन्द्रसभा के लिए भीड़ जोड़ने के लिए पहले प्रवचन रख देते हैं। इसप्रकार पण्डितजी का उपयोग भीड़ जोड़ने के लिए कर लिया और जब भीड़ इकट्ठी हो गई तो इन्द्रसभा में इन्द्र नाचने लगे।

अरे भाई ! ये जो प्रवचनों में भीड़ होने लगी है, यह गुरुदेवश्री का ही पुण्य-प्रताप है और यदि हम अपने कार्यक्रम की सफलता के लिए प्रवचनों का साधन के रूप में प्रयोग करते हैं तो यह हमारा दुर्भाग्य है।

हमें गुरुदेवश्री से इतनी बढ़िया चीज मिली और हमने उसका गलत उपयोग किया। ये तो हमारा परम सौभाग्य है कि प्रवचन सर्वाधिक उपस्थिति के कारण हैं; हमें दूसरे कारणों से भीड़ इकट्ठी नहीं करनी पड़ती है। प्रवचन की घोषणा ही उसके लिए पर्याप्त है।

दूल्हे के लिए बारात है या बारात के लिए दूल्हा ?

अरे भाई ! दूल्हे के लिए बारात है। वैसे ही **तत्त्वज्ञान में आत्म कल्याण की भावना प्रमुख रहती है।** जब हमारे चित्त में तत्त्वज्ञान की ऐसी महिमा आएगी, तभी दृष्टि का विषय हमारी समझ में आएगा, अन्यथा नहीं। ●

भाई ! एक बात यह भी तो है कि यदि हिंसा एक बार किसी के मन में उत्पन्न हो गई तो फिर वह कहीं न कहीं प्रगट अवश्य होगी।

–गागर में सागर, पृष्ठ–७९

आठवाँ प्रवचन

समयसार परमागम की छठवीं-सातवीं गाथा के आधार से इस विषय पर चर्चा चल रही है कि दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल है या नहीं तथा पर्याय शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है ?

पूर्व में की गई समस्त चर्चा को स्पष्ट करनेवाला समयसार अनुशीलन का निम्न कथन दृष्टव्य है –

"इसप्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि प्रवाह की निरन्तरता को भी नित्यता कहते हैं, क्योंकि नित्यता और अनित्यता में काल की अपेक्षा मुख्य है।

अत: नित्य का अर्थ 'वस्तु की सदा उपस्थिति' मात्र इतना ही अभीष्ट नहीं है, अपितु उसमें प्रवाह की निरन्तरता भी सम्मिलित है। यह नित्यता ही काल की अखण्डता है, जो दृष्टि के विषयभूत द्रव्य का अभिन्न अंग है।[१]"

वस्तु, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमय होती है।

१. द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु के सामान्य और विशेष – ये दो भेद होते हैं।

२. क्षेत्र की अपेक्षा से वस्तु के भेद और अभेद – ये दो भेद होते हैं।

३. काल की अपेक्षा से वस्तु के नित्य और अनित्य – ये दो भेद होते हैं।

४. भाव की अपेक्षा से वस्तु के एक और अनेक – ये दो भेद होते हैं।

इसप्रकार इन आठ से संयुक्त जो वस्तु होती है, उसे प्रमाण का द्रव्य कहा जाता है और यह प्रमाण का द्रव्य मूल वस्तु है।

---

१. समयसार अनुशीलन, भाग १, पृष्ठ ७७

उस मूलवस्तु में से **१. द्रव्य का सामान्य, २. क्षेत्र का अभेद, ३. काल का नित्य और ४. भाव का एक – ये सामान्य, अभेद, नित्य और एक – ये द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं; इन चारों को द्रव्यार्थिकनय का विषय होने से 'द्रव्य' कहा जाता है।**

उस मूलवस्तु में, **१. द्रव्य का विशेष, २. क्षेत्र का भेद, ३. काल का अनित्य और ४. भाव का अनेक – ये विशेष, भेद, अनित्य और अनेक – पर्यायार्थिक नय के विषय हैं, इन चारों को पर्यायार्थिकनय का विषय होने से 'पर्याय' कहा जाता है।**

द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य में पर्याय, शामिल नहीं है, जबकि प्रमाण के विषयभूत द्रव्य में पर्याय, शामिल है।

द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य एवं पर्यायार्थिकनय के विषयभूत पर्याय – इन दोनों को प्रमाण, एकसाथ अपना विषय बनाता है।

द्रव्यार्थिकनय के विषय की संज्ञा **द्रव्य** है एवं पर्यायार्थिकनय के विषय की संज्ञा **पर्याय** है।

काल की अपेक्षा वस्तु के नित्य और अनित्य – ये दो पक्ष होते हैं।

जब हम वस्तु को नित्य कहते हैं तो उस नित्य का अर्थ हम यह समझते हैं कि 'जो हमेशा कायम रहे' उसका नाम नित्य है।

'कायम रहना' का अर्थ हम मात्र 'नहीं पलटना' ही ग्रहण करते हैं, संकुचित अर्थ में नित्य का यह अर्थ सही भी है, लेकिन व्यापक अर्थ में नित्य का अर्थ अलग ही है।

'अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय पलटेगा, एक समय भी पलटे बिना रहेगा नहीं' – यह स्वरूप भी नित्य है; क्योंकि यदि यह स्वरूप अनित्य होता तो फिर द्रव्य कभी पलटता और कभी नहीं पलटता, जबकि ऐसा नहीं होता है। द्रव्य नित्य पलटता है।

जब हम 'नित्य पलटता है' – यह कहते हैं तो हमें पलटने के साथ

नित्यता का बैर-विरोध लगता है, जबकि इसमें बैर-विरोध नहीं है।

जैसा वस्तु का स्वभाव, 'कभी नहीं पलटना है' वैसा ही वस्तु का स्वभाव, 'प्रतिसमय पलटना' भी है। वस्तु का द्रव्यस्वभाव, कभी नहीं पलटनेवाला है और वस्तु का पर्यायस्वभाव – प्रतिसमय पलटनेवाला है। ये दोनों ही वस्तु के नित्य स्वभाव हैं।

ऐसा नहीं है कि द्रव्यस्वभाव द्रव्य का स्वभाव है और पर्यायस्वभाव, पर्याय का। ये दोनों ही वस्तु के नित्य स्वभाव हैं।

अब यदि कोई यह पूछे कि उसका पर्याय स्वभाव नाम क्यों रखा?

अरे भाई! पलटनेवाला स्वभाव होने से उसका पर्यायस्वभाव नाम रखा। पर्यायस्वभाव वस्तु का स्वभाव होने से, द्रव्यस्वभाव ही है।

पर्याय के बारे में, पर्याय की तरफ से/अपेक्षा से कहा जाता है, इसलिए पर्यायस्वभाव कहा जाता है।

पर्यायस्वभाव का तात्पर्य पर्याय का स्वभाव नहीं है। 'वस्तु में प्रतिसमय परिवर्तन होगा' यह बतानेवाला द्रव्य का पर्यायस्वभाव है। यह पर्यायस्वभाव नित्य है, अनित्य नहीं।

जिसप्रकार द्रव्य का कभी भी नहीं पलटना स्वभाव है; उसीप्रकार द्रव्य का निरन्तर पलटना भी स्वभाव है।

अब यदि कोई कहे कि 'कभी नहीं पलटना' और 'निरन्तर पलटना' ये दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं? इस प्रश्न का समाधान करनेवाला, समयसार ग्रन्थाधिराज की ३०८ से ३११ की गाथा की टीका का निम्न कथन दृष्टव्य है –

"जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः। एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव, न जीवः।

प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं। इसीप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों

से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं।[१]''

इन पंक्तियों में 'पलटना' और 'नहीं पलटना', ये दोनों बातें एक साथ कही हैं। जीव प्रतिसमय पलट रहा है, अनादिकाल से पलट रहा है एवं अनंतकाल तक पलटेगा, फिर भी वह पलट कर कभी अजीव नहीं होगा।

'एक द्रव्य, कभी दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता है' – इसका नाम है कभी नहीं पलटना एवं अपने में निरन्तर परिवर्तन होने का नाम पलटना है।

भगवान आत्मा में अनंत गुण हैं व असंख्य प्रदेश हैं और उन अनंत गुणों में से कभी भी एक गुण, कम नहीं होगा और असंख्य प्रदेशों में से कभी भी एक प्रदेश, कम नहीं होगा।

जिसप्रकार यह नित्यस्वभाव है; उसीप्रकार 'प्रत्येक गुण में प्रतिसमय परिणमन होगा' – यह भी नित्य स्वभाव ही है। **मात्र 'नहीं पलटना' ही नित्यस्वभाव नहीं है, अपितु 'प्रतिसमय पलटना' भी नित्यस्वभाव है।**

इसप्रकार नित्य में 'वस्तु की सदा उपस्थिति' मात्र इतना ही नहीं है, अपितु प्रवाह की निरन्तरता भी शामिल है। यह नित्यता ही काल की अखण्डता है, जो दृष्टि के विषयभूत द्रव्य का अभिन्न अंग है।

प्रवाह की निरन्तरता को नित्यता कहते हैं। जैसे – नदी मात्र बहुत पानी का नाम नहीं है, बहुत पानी का नाम दरिया, समुद्र, झील, तालाब, बाँध या कुँआ, कुछ भी हो सकता है; लेकिन नदी नहीं हो सकता।

न तो पानी के अभाव का नाम नदी है और न ही पानी के समुदाय का नाम नदी है। निरन्तर बहते हुए पानी का नाम नदी है। यदि नदी में से प्रवाह को निकाल दिया जाये तो वह नदी नहीं रहेगी; फिर वह तालाब, बाँध या समुद्र हो जायेगी, लेकिन नदी नहीं रहेगी।

---

१. समयसार, ३०८ से ३११वीं टीका, पृष्ठ ४९४

गंगोत्री से निकल कर बंगाल की खाड़ी तक, गंगा निरन्तर प्रवाहमान नदी है; उसके बाद गंगा, नदी नहीं है; क्योंकि फिर तो वह सागर बन गई। इसप्रकार प्रवाह की निरन्तरता का नाम ही नित्यता है।

'द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य है' – यह भाषा तो अधूरी है। पूरी भाषा तो यह है कि **'द्रव्यदृष्टि से द्रव्य (वस्तु) नित्य है और पर्याय दृष्टि से द्रव्य (वस्तु) अनित्य है।'**

नाटकों की जो भाषा होती है, वह अपूर्ण होती है; जबकि अदालत की भाषा, न्यायशास्त्र की भाषा पूर्ण होती है। नाटकों में किसी के द्वारा यह पूछने पर कि 'तुम आओगे ?' तो इसका उत्तर मात्र 'हाँ' दिया जा सकता है' अदालत में मात्र हाँ कहने पर काम नहीं चलेगा। यदि वहाँ यह पूछा जाता है कि तुम्हारा नाम विमलकुमार है ? तो उसे अदालत में न्यायाधीश के सामने पूरा वाक्य बोलना पड़ेगा कि हाँ ! मेरा नाम विमलकुमार है।

नाटक, साहित्य के अंतर्गत आते हैं; इसलिए साहित्य की भाषा में पर्याय अनित्य है, द्रव्य नित्य है – मात्र इतना ही कह दिया जाता है; लेकिन इस वाक्य का वास्तविक अर्थ यह है कि **द्रव्यार्थिक दृष्टि से द्रव्य नित्य है और पर्यायार्थिक दृष्टि से द्रव्य अनित्य है।**

इसप्रकार नित्यता का अर्थ 'वस्तु की सदा उपस्थिति' ही नहीं है, अपितु उसमें प्रवाह की निरन्तरता भी शामिल है; क्योंकि नित्यता और अनित्यता दोनों में काल की अपेक्षा है। नित्यता में भी काल की अपेक्षा है और अनित्यता में भी काल की अपेक्षा है। वस्तु नित्य भी काल की अपेक्षा से है और अनित्य भी काल की अपेक्षा से है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में काल को पर्याय कहते हैं।

द्रव्य-गुण-पर्याय में **पर्याय को** काल कहा जाता है, **भाव को** गुण कहा जाता है और **द्रव्य स्वयं वस्तु** है; इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय में प्रदेशों को शामिल नहीं किया है।

जिसप्रकार गुणों में स्वभावभेद है, वैसा स्वभावभेद प्रदेशों में नहीं है। ज्ञान, दर्शन गुणों की भांति प्रदेशों में ऐसा कोई भेद नहीं है कि यह प्रदेश देखने का काम करेगा या यह प्रदेश जानने का काम करेगा।

इस विषय के संबंध में हम पूर्व में विस्तार से चर्चा कर चुके हैं; अतएव उसका विशेष वर्णन अपेक्षित नहीं है। मात्र इतना ही जानना पर्याप्त है कि **द्रव्य-गुण-पर्याय में प्रदेशों को गौण कर दिया। लेकिन वस्तु में 'असंख्यातप्रदेशी' - यह भी एक पक्ष है, यदि इस पक्ष को गौण कर दिया तो पूरी वस्तु पकड़ में नहीं आएगी।**

इसप्रकार नित्यता वाला काल का पक्ष, दृष्टि के विषयभूत द्रव्य में शामिल है और उस नित्यता में 'कभी नहीं पलटना' ही नहीं; अपितु 'निरन्तर पलटना' भी शामिल है।

यदि हम निरन्तर पलटने को अनित्यता कहकर द्रव्य में से निकालते हैं तो मात्र पर्याय ही नहीं निकलेगी; अपितु अनित्यत्व नाम का धर्म भी निकल जाएगा और **यदि भगवान आत्मा में से एक धर्म या गुण भी बाहर निकलता है तो वह भगवान आत्मा भाव से खण्डित हो जायेगा।**

यदि वस्तु में से अनित्यत्व को निकाला जाता है तो मात्र पर्याय ही नहीं निकलेगी, अपितु अनित्यत्व नाम का धर्म भी निकल जायेगा तो यह काल संबंधी भूल नहीं है, अपितु भावसंबंधी भूल है; क्योंकि अनित्यत्व धर्म, गुण में शामिल है और **गुण भाव को कहते हैं।**

इसी विषय से संबंधित समयसार अनुशीलन का निम्न कथन भी द्रष्टव्य है -

"**प्रश्न** - इसप्रकार काल की अखण्डता को सुरक्षित रखने से द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य में अर्थात् दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल नहीं हो जावेगी क्या ? क्योंकि परिणामों के अन्वय को ही तो काल की अखण्डता कहा जा रहा है। जब परिणामों का अन्वय दृष्टि के विषय में आ गया तो परिणाम ही आ गये समझिये।

उत्तर – ऐसी बात नहीं है; क्योंकि आचार्य जयसेन अन्वय को गुण का और व्यतिरेक को पर्याय का लक्षण कहते हैं। उनके मूल शब्द इसप्रकार हैं –

अन्वयिनो गुणा अथवा सहभुवा गुणा इति गुणलक्षणम्। व्यतिरेकिणः पर्याया अथवा क्रमभुवः पर्याया इति पर्यायलक्षणम्।[१]

उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि अनुस्यूति से रचित प्रवाह गुण है, पर्याय नहीं। काल का अन्वय (अखण्ड प्रवाह) गुण है और काल का व्यतिरेक पर्यायें हैं। इसप्रकार काल की अखण्डता दृष्टि के विषय में आने पर भी पर्यायें उसमें नहीं आतीं।[२]

प्रदेशों का विस्तार भी अनुस्यूति से रचित होता है और पर्यायों का प्रवाह भी अनुस्यूति से रचित होता है।

आत्मा में जो असंख्य प्रदेश हैं; वे बिखर कर कभी अलग-अलग नहीं होते हैं; क्योंकि उनमें **अनुस्यूति से रचित एक विस्तार है**। जिसप्रकार प्रदेशों में अनुस्यूति से रचित विस्तार है; उसीप्रकार **पर्यायों में भी अनुस्यूति से रचित प्रवाह है**।

पूर्वपर्याय और उत्तरपर्याय – ये दोनों पृथक्-पृथक् होने पर भी इतनी मजबूती से जुड़ी हैं कि इनका जोड़ कोई मोतियों से पिरोए हुए सूत के समान नहीं है। मंदिरों में संगमरमर को ही खोद-खोदकर बनाई गई माला में जो मोती जुड़े होते हैं; वे किसी सीमेंट के मसाले से नहीं जुड़े होते हैं, अपितु वे अन्दर में उसी संगमरमर से जुड़े होते हैं।

जो दो पर्यायें मजबूती से जुड़ी हैं, वे सूत में पिरोई गई माला के समान नहीं हैं; अपितु संगमरमर से बनी मोतियों की माला के समान हैं।

जिसप्रकार दो प्रदेश अलग-अलग होने पर भी मजबूती से जुड़े हुए हैं, उसीप्रकार दो पर्यायें भी अलग-अलग होने पर भी अन्दर से

१. प्रवचनसार ९३ की गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका
२. समयसार अनुशीलन, भाग १, पृष्ठ ७७-७८

बहुत मजबूती से जुड़ी हुई हैं। जिसप्रकार दो प्रदेशों के बीच में कोई खाली जगह नहीं है, उसीप्रकार दो पर्यायों के बीच में भी कोई खाली जगह नहीं है।

डोरे में पिरोई गई जो मोतियों की माला है, उसमें दो मोतियों के बीच में खाली जगह है; किन्तु जो संगमरमर के मोती बनाए गए हैं, उनमें वे मोती किसी मसाले से नहीं जोड़े गए हैं। वे पर्यायें डोरी में पिरोए गए मोतियों के समान नहीं हैं; अपितु संगमरमर पर बनाई गई मोतियों के माला के समान हैं।

जिसप्रकार द्रव्य में दो प्रदेशों के बीच में क्षेत्र की अखण्डता है; उसीप्रकार दो पर्यायों के बीच में काल की अखण्डता है और उन प्रदेशों और पर्यायों में अनुस्यूति से रचित विस्तार और प्रवाह है। **जो अनुस्यूति से रचित प्रवाह है, वह अन्वय है और वह अन्वय द्रव्य का लक्षण है तथा पर्यायों में जो परस्पर व्यतिरेकीपना है, वह पर्याय का लक्षण है।**

कुछ लोग कहते हैं कि आपने पर्यायों के प्रवाह को शामिल करके दृष्टि के विषय में सभी पर्यायों को शामिल कर लिया।

मैं उनसे कहता हूँ कि अरे भाई ! **पर्यायों के प्रवाह का नाम तो द्रव्य है।**

यदि अनुस्यूति से रचित प्रवाह को पर्याय मानकर द्रव्य से निकालते हैं तो मात्र पर्याय खण्डित नहीं होती है, अपितु द्रव्य खण्डित होता है। अनुस्यूति से रचित प्रवाह तो नित्यता का लक्षण है।

यदि उस नित्यत्व नामक धर्म को निकालेंगे तो भगवान आत्मा भाव से खण्डित हो जाएगा।

यदि द्रव्य में से अनुस्यूति से रचित प्रवाह को निकाला तो अन्वय निकल जायेगा, जबकि निकालना (व्यतिरेक) पर्याय को है।

प्रश्न – क्या व्यतिरेक अन्वय के अंश नहीं हैं, जबकि प्रवचनसार की टीका में पर्यायों को 'अन्वय का व्यतिरेक' – ऐसा कहा है ?

उत्तर – जैसे आजकल कई ऐसे जुड़वा बच्चे पैदा होते हैं, जिनके अंग जुड़े होते हैं; यदि उन्हें अलग-अलग किया जावे तो वे दोनों ही मर जायेंगे, जिन्दा नहीं रह पावेंगे। उसीप्रकार द्रव्य में दो पर्यायें ऐसी जुड़ी हैं कि उनके बीच में बिल्कुल खाली जगह नहीं है और वे इसप्रकार से जुड़ी हैं कि वे तीन लोक और तीन काल में कभी भी अलग नहीं हो सकती हैं।

उन पर्यायों का अलग नहीं होना, उसका नाम अनुस्यूति से रचित प्रवाह है, वह अन्वय है तथा अन्वय दृष्टि के विषय में शामिल है।

'अनुस्यूति से रचित प्रवाह अन्वय है, द्रव्य है; पर्याय नहीं – यह बात समझना बहुत कठिन है और इससे भी ज्यादा कठिन इसे शब्दों में बाँधना है।

आज के संदर्भ में मुमुक्षु समाज का जो वातावरण वर्तमान में बन रहा है, उसमें इस विषय को संतुलित शब्दों में व्यक्त करना बहुत ही कठिन काम है।

यह जो गुरुदेवश्री द्वारा समझाया गया असली तत्त्वज्ञान है; उस पर एक बार मंथन होकर पुस्तक के रूप में लिखा जाये – ऐसी मेरी भावना है; लेकिन यह बात मात्र पुस्तकों में लिखी जाने से कायम नहीं रहेगी, यह बात तो दिमाग में लिखी जानी चाहिए; इसलिए मेरे पास जो महाविद्यालय के दो सौ विद्यार्थी हैं, मैं उनके दिमाग में यह लिख रहा हूँ। चूँकि ये विद्यार्थी प्रवक्ता हैं; इसलिए इनके दिमाग में रहने से यह बात अन्य लोगों तक भी पहुँचेगी। प्रवक्ताओं के दिमाग में इस बात को लिखने से इसके अधिक काल तक टिके रहने की संभावना है। ●

नौवाँ प्रवचन

समयसार परमागम की छठवीं-सातवीं गाथा के आधार पर इस विषय पर चर्चा चल रही है कि दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल है या नहीं? तथा उस पर्याय का वास्तविक अर्थ क्या है ?

इस संदर्भ में समयसार अनुशीलन का निम्न कथन द्रष्टव्य है -

''पर्यायदृष्टि का विषय बनने के कारण; **विशेष, अनेक, भेद एवं अनित्यता को पर्याय कहा जाता है** और द्रव्यदृष्टि का विषय बनने के कारण; **सामान्य, एक, अभेद एवं नित्यता को द्रव्य कहा जाता है।**

यही द्रव्य, द्रव्यदृष्टि का विषय बनता है और इसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है।

इस द्रव्य में सामान्य के रूप में **१. द्रव्य, २. एक के रूप में अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड, ३. अभेद के रूप में असंख्य प्रदेशों का अखण्ड पिण्ड और ४. नित्य के रूप में अनंतानंत पर्यायों का सामान्यांश या वृत्ति का अनुस्यूति से रचित प्रवाह शामिल होता है।**

इसप्रकार दृष्टि के विषय में १. द्रव्य, २. क्षेत्र, ३. काल, ४. भाव की अखण्डता-एकता विद्यमान रहती है।[१]''

पर्याय और द्रव्य के सम्बन्ध में आजकल जितना भी भ्रम उत्पन्न हुआ है; वह सब द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय का सही स्वरूप नहीं समझने के कारण हुआ है।

हमने द्रव्य-गुण-पर्याय के रूप में तो वस्तुव्यवस्था को समझा है; लेकिन स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल और स्वभाव के रूप में वस्तुव्यवस्था का अध्ययन बारीकी से नहीं किया।

'द्रव्य' शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं और 'पर्याय' शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं।

---

१. समयसार अनुशीलन भाग-१, पृष्ठ - ७८

जब मैं नयचक्र लिख रहा था, तब मैं व्यवहारनय के सम्बन्ध में बहुत उलझन में रहा।

जब मैंने जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में व्यवहार का लक्षण देखा तो मैंने पाया कि जिनेन्द्रवर्णीजी ने नैगम-संग्रह-व्यवहारनयवाले व्यवहारनय के लक्षण भी वहीं लिख दिए जहाँ निश्चय-व्यवहारनयवाले व्यवहारनय के लक्षण लिखे गये हैं।

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में दोनों व्यवहारनयों के लक्षण व उदाहरण, सभी मिले हुए थे। निश्चय-व्यवहारनयवाले प्रकरण में निश्चय-व्यवहार वाले व्यवहारनय की परिभाषाएँ देनी चाहिए थीं और नैगम-संग्रह-व्यवहारनयवाले प्रकरण में नैगम-संग्रह-व्यवहारवाले व्यवहारनय की परिभाषा देनी चाहिए थी; लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। इस बात पर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। मुझे भी यह विषय समझ में तब आया, जब मैंने इसका गहरा अध्ययन किया।

इस संदर्भ में मैं एक विषय और बताना चाहता हूँ कि श्री जिनेन्द्रवर्णी ने द्रव्यार्थिकनय के दश भेदों में पाँच को शुद्धद्रव्यार्थिक एवं पाँच को अशुद्धद्रव्यार्थिक बताया है। उनमें तीन शुद्धद्रव्यार्थिक और तीन अशुद्ध द्रव्यार्थिक हैं, जो निम्नप्रकार हैं -

१. कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय
२. भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय
३. उत्पादव्ययनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय
४. कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय
५. भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय
६. उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय

उन्होंने शेष अन्वयद्रव्यार्थिकनय एवं परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय को अशुद्ध तथा स्वद्रव्यादिक ग्राहक एवं परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय को शुद्धद्रव्यार्थिकनय बताया है।

उक्त कथन का पोषक उनका कथन इसप्रकार है –

"द्रव्यार्थिकनय के पहले दो मूल भेद किए गए – शुद्धद्रव्यार्थिक व अशुद्धद्रव्यार्थिक तथा इसके प्रतिबिम्बरूप आगे दश भेद किए गए – १. उत्पादव्ययनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय, २. उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, ३. भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय, ४. भेद-कल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, ५. कर्मनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय, ६. कर्मसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, ७. स्वद्रव्यादिचतुष्टयग्राही शुद्धद्रव्यार्थिकनय, ८. परद्रव्यादिचतुष्टयविच्छेदक अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, ९. परमपारिणामिकभावग्राही शुद्धद्रव्यार्थिकनय और १०. गुण व त्रिकाली पर्यायों में अनुगत पिण्ड अन्वय नाम वाला अशुद्ध-द्रव्यार्थिकनय।[१]"

जबकि स्वद्रव्यादिग्राहक, परद्रव्यादिग्राहक, अन्वय एवं परम-भावग्राही द्रव्यार्थिकनयों में कर्मोपाधि, उत्पाद-व्यय एवं भेदकल्पना की सापेक्षता या निरपेक्षता न होने से शुद्धता एवं अशुद्धता का भेद ही नहीं है।

अन्तिम जो परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय है; वह शुद्ध, अशुद्ध और उपचार से रहित परमस्वभाव को ग्रहण करता है, इसलिए उसे परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय कहा जाता है। यह परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय शुद्धता और अशुद्धता – दोनों से रहित है। इसे शुद्ध इसलिए नहीं कह सकते हैं; क्योंकि शुद्ध का अर्थ रागादि से रहित अर्थात् वीतरागी मानना होगा और वीतरागता का अर्थ निर्मल पर्याय है, जबकि यह परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय निर्मलपर्याय और मलिनपर्याय से सहित जो शुद्धाशुद्ध उपचार है, उससे रहित है।

यद्यपि जिनेन्द्रवर्णी ने शुद्धाशुद्ध के संबंध में अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने का बहुत प्रयत्न किया, तथापि ऐसा लगता है कि वे स्वयं भी इस

१. नयदर्पण, पृष्ट ४७६

बात से पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो पाये थे; क्योंकि चार्ट एक[१] में वे स्वयं चार नयों को शुद्ध एवं छह नयों को अशुद्ध बताते हैं, पर चार्ट दो[२] में पाँच शुद्ध और पाँच अशुद्ध नय बताते हैं।

जब ऐसा वर्णन हमें मिलता हो तो इसे गले उतारना कैसे संभव है? जिनकी वर्णीजी पर अगाढ़ श्रद्धा हो, वे इसे गले उतार भी लें; लेकिन यदि मैं भी यही अपनी कृति में लिख दूँ तब फिर मैं तो इस लेखन का जिम्मेदार हो जाऊँगा, कोई भी व्यक्ति मेरे पास आकर इस संबंध में मुझसे पूछ सकता है। मैं उससे यह थोड़े ही कह सकता हूँ कि 'मैंने तो यह उसमें से लिखा है, मैं इसके लिए जिम्मेदार नहीं हूँ।'

इसीप्रकार इस ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता कि स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के दो-दो हिस्सों में एक हिस्से का नाम पर्याय है और दूसरे हिस्से का नाम द्रव्य है।

अरे भाई ! काल को भी पर्याय कहा जाता है, लेकिन यदि वस्तु में से पर्याय के नाम पर काल को निकाल देंगे तो फिर वस्तु ही नहीं बन सकती है।

अरे भाई ! लौकिक व्यवहार में भी यदि किसी को पधारने का निमंत्रण देना हो तो कहाँ, कब, क्यों - इन प्रश्नों का उत्तर उसमें होना चाहिए, मात्र 'पधारना' कहना काफी नहीं है। उसमें ये सभी आवश्यक बातें होनी चाहिए।

यदि शादी का कार्ड भी देना हो, यदि उसमें वर-वधू का अलंकार व गुणों सहित नामोल्लेख हो, कृपाभिलाषी व दर्शनाभिलाषी - इनके नाम भी लिखे हों; लेकिन यदि उस कार्ड में समय और स्थान नहीं लिखा हो तो कोई भी शादी में नहीं जा पाएगा।

एक बार जब दादर (मुम्बई) में पंचकल्याणक हुआ था, उस

---

१. नयदर्पण, पृष्ठ २३० के साथ संलग्न चार्ट १
२. नयदर्पण, पृष्ठ ७२२ के साथ संलग्न चार्ट २

पंचकल्याणक में श्री चिमनभाई मोदी ही सूचना देते थे, वे अपनी पुरानी परम्परा में ही गुरुदेव के प्रवचन की सूचना देने के लिए उनके नाम के पहले 'परम कृपालु....' आदि तीन चार पंक्ति के विशेषण लगाने के बाद कहते कि उनका (गुरुदेवश्री का) तीन बजे प्रवचन होगा, लेकिन इतना सुनने के पहले ही जनता उठ जाती थी। तब मैंने उनसे कहा कि गुरुदेवश्री के नाम के आगे इतने विशेषण लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है। आपको तो 'पूज्यगुरुदेवश्री' का प्रवचन – इतना कहकर, समय और स्थान बताना ही पर्याप्त है।

मुझे याद है जब मेरा 'पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था, तब लोगों को इस सम्बन्ध में बहुत शिकायत हुई कि मैंने टोडरमलजी के नाम के साथ 'जी' नहीं लगाया। अरे भाई! यदि मैं 'पण्डित टोडरमलजी : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व' यह अपने शोध का विषय रखता तो मेरा विश्वविद्यालय में पीएच.डी. उपाधि के लिए रजिस्ट्रेशन ही नहीं होता; क्योंकि वहाँ 'श्री' और 'जी' नहीं लगाया जाता है।

ऐसे ही पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के स्थान पर पूज्य पण्डित श्री टोडरमलजी स्मारक ट्रस्ट नहीं लिख सकते हैं। भगवान महावीर को महावीरजी नहीं कह सकते। यदि कहेंगे तो वह स्टेशन का नाम हो जायेगा।

इसीप्रकार स्वस्ति मंगलपाठ की पंक्तियों को भी लोग गलत बोलते हैं, वे पंक्तियाँ निम्न हैं –

श्रीवृषभो नः स्वस्ति, स्वस्ति श्री अजितः।
श्रीसम्भवः स्वस्ति, स्वस्ति श्री अभिनन्दनः।।

इन पंक्तियों के संबंध में वे कहते हैं कि इन पंक्तियों में भगवान के नाम के साथ 'जी' नहीं लगाया। वे लोग इन पंक्तियों को फिर स्वस्तिश्री वृषभनाथजी, स्वस्तिश्री अजितनाथजी.....इसप्रकार से बना लेते

हैं। अरे भाई ! संस्कृत का ऐसा नियम है कि संस्कृत में यदि एकवचन में विसर्ग लगा हुआ है तो उस विसर्ग का उच्चारण होना चाहिए। अब यदि उस स्वस्तिपाठ में 'जी' नहीं लगा है तो वह भगवान का कोई अपमान नहीं है। नाम तो जैसा चलता है, वैसा ही चलेगा।

इसप्रकार जब लौकिक व्यवहार में किसी कार्य का आयोजन द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के बिना नहीं हो सकता है तो फिर वस्तु भी काल के बिना समग्रवस्तु नहीं कहला सकती है। यदि पर्याय के नाम पर काल को वस्तु में से निकाल दिया जाय तो वह सम्पूर्ण वस्तु नहीं कहलाएगी।

विशेष, अनेक, भेद एवं अनित्य – ये सभी पर्यायार्थिकनय का विषय होने के कारण पर्याय हैं। इन सभी के पर्याय होने का एकमात्र हेतु पर्यायार्थिकनय का विषय होना है।

सामान्य, एक, अभेद एवं नित्य – ये सभी द्रव्यार्थिकनय का विषय होने के कारण द्रव्य हैं। यही द्रव्य, द्रव्यदृष्टि का विषय है और इसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है।

दृष्टि के विषयभूत इस द्रव्य में सामान्य के रूप में द्रव्य, एक के रूप में अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड, अभेद के रूप में असंख्यप्रदेशों का अखण्डपिण्ड और नित्य के रूप में अनन्तान्त पर्यायों का सामान्यांश-इन सभी को शामिल किया गया है।

अनंतांत पर्यायों के सामान्यांश को ही 'वृत्ति का अनुस्यूति से रचित प्रवाह' कहा जाता है। मैं यहाँ जानबूझकर 'पर्याय' शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहता हूँ। यदि मैं इसकी जगह यह कहता हूँ कि दृष्टि के विषय में पर्यायों का अनुस्यूति से रचित प्रवाह शामिल है तो लोगों को लगता है कि मैंने दृष्टि के विषय में पर्याय को शामिल कर लिया है।

अरे भाई ! **पर्यायों के प्रवाह से अलग कोई अन्य नित्य नहीं है। दृष्टि के विषय में इस नित्य का निषेध नहीं है। वहाँ निषेध तो प्रदेशभेद, गुणभेद का है।**

दो गुणों में लक्षण भेद होने से उसके लक्ष्य से विकल्प की उत्पत्ति होती है और अभेदवस्तु ख्याल में नहीं आती है; इसलिए दृष्टि के विषय में गुणभेद का निषेध किया है।

इसी संदर्भ में सातवीं गाथा के जयचन्दजी द्वारा लिखित भावार्थ में उठाये गये प्रश्न और दिए गये उत्तर का जो स्पष्टीकरण स्वामीजी ने किया है; वह भी द्रष्टव्य है –

"शिष्य का प्रश्न ठीक से समझना चाहिए। गुणभेदरूप पर्याय द्रव्य का ही अंश है, अवस्तु नहीं। यहाँ अवस्तु का अर्थ परवस्तु समझना चाहिए। जिसप्रकार शरीर परवस्तु है, कर्म परवस्तु है; भेदरूप पर्याय उसप्रकार की परवस्तु नहीं है। पर्याय तो स्वद्रव्य का ही अंश है, अतः निश्चय है; उसे व्यवहारनय कैसे कहा जाता है? – यह **प्रश्न** है शिष्य का।

इसी प्रश्न का **उत्तर** देते हुए यहाँ कहा गया है कि यद्यपि पर्याय वस्तु का ही भेद है, अवस्तु नहीं, परवस्तु नहीं; तथापि यहाँ पर्यायदृष्टि छुड़ाकर द्रव्यदृष्टि कराने का प्रयोजन होने से **अभेद को मुख्य करके उपदेश दिया गया है। भेद को गौण करने पर ही अभेद भलीभाँति प्रतिभासित होता है; इसलिए यहाँ भेद को गौण किया गया है।**

ध्यान रहे, यहाँ भेद को (भेदरूप व्यवहार को) गौण किया है, उसका अभाव नहीं किया गया है।

यहाँ अभिप्राय यह है कि भेददृष्टि में निर्विकल्पदशा नहीं होती, सम्यग्दर्शन नहीं होता; अपितु राग ही उत्पन्न होता है। अनन्तगुणात्मक, अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रभुता, स्वच्छता आदि अनन्तगुणों को लक्ष्य में लेने पर राग ही उत्पन्न होता है। नवतत्त्वों के भेद की बात तो दूर ही रहो, यदि गुण-गुणी का भेद भी खड़ा होगा तो निर्विकल्पदशा नहीं होगी। वस्तु और उसकी शक्तियाँ – ऐसा भेद भी दृष्टि का विषय नहीं बनता। **दृष्टि का विषय तो अभेद,**

अखण्ड, एक ज्ञायकभाव ही है। दृष्टि स्वयं पर्याय है, वह भी दृष्टि के विषय में नहीं आती, वह भी ध्यान का ध्येय नहीं बनती।[१]''

मैंने यहाँ गुरुदेवश्री का उद्धरण देना इसलिए उपयुक्त समझा; क्योंकि अधिकांश लोग यही सोचा करते हैं कि यदि एक बार सिद्ध हो जाय कि इनका कथन गुरुदेवश्री, जयचन्दजी, राजमलजी आदि से नहीं मिले तो फिर हमारा काम सरल हो जायेगा। अरे भाई! ऐसा सोचने से किसी को कोई उपलब्धि नहीं होगी, अपितु यदि कोई ऐसा सिद्ध भी करना चाहता है तो उससे तत्त्वप्रभावना का काम ही रुकनेवाला है और कुछ भी होनेवाला नहीं है।

मैं यहाँ एक घटना का उल्लेख करना चाहता हूँ कि एक बार बम्बई में बोरीबली के त्रिमूर्ति मन्दिर में बहुत बड़ा सम्मेलन हुआ था। उस सम्मेलन में आचार्य श्री विमलसागरजी सहित पण्डित श्री कैलाशचंदजी, पण्डित श्री जगन्मोहनलालजी, पण्डित श्री श्यामसुन्दरदासजी, प्रो. श्री नरेन्द्रप्रकाशजी, डॉ. लालबहादुर शास्त्री आदि सभी विद्वान तथा अन्य गणमान्य लोग मौजूद थे। कहने का तात्पर्य यह है कि महासभा, परिषद् और महासमिति आदि सभी के सदस्य वहाँ उपस्थित थे। यह वह समय था, जिस समय **धन्य अवतार** पुस्तक निकली थी और यह किताब गाँवों-गाँवों में पहुँच चुकी थी तथा उस किताब का बहुत विरोध हो रहा था। ऐसी स्थिति देखकर उस सम्मेलन में पण्डितश्री श्यामसुन्दरदासजी, फिरोजाबादवालों ने मुझसे कहा -

''पण्डितजी ! आपने बहुत बढ़िया काम किया, जो **धन्य अवतार** किताब निकाल दी, इससे अब हमारा काम सरल हो जाएगा, अब हम आपको आसानी से उखाड़ कर फेंक देंगे।''

तब मैंने उनसे कहा कि आप हमें उखाड़ कर क्या करेंगे? अरे! पूज्य गुरुदेवश्री के अध्यात्म को सुनकर जिन श्वेताम्बर भाईयों ने दिगम्बर

---

१. प्रवचनरत्नाकर (गुजराती), भाग-१, पृष्ठ ११३

धर्म स्वीकार किया है तो आप हमें उखाड़कर क्या उन्हें फिर से श्वेताम्बर बनाना चाहते हैं? आप यह काम सरल करना चाहते हैं? यदि आप उन भाईयों को दिगम्बर बनाए रखना चाहते हैं, उन्हें दिगम्बर समाज से जोड़े रखना चाहते हैं, तो आपको यह काम हमारे माध्यम से ही करना होगा। उन्हें दिगम्बर समाज से जोड़कर रखने का हमारे अलावा दूसरा कोई साधन आपके पास नहीं है; क्योंकि हमने ही उनका विश्वास जीता है। यदि आपने हमें उखाड़कर हमारा माध्यम खो दिया तो फिर आपके पास उनसे सम्पर्क करने का साधन न रहेगा। मेरी इस बात पर गंभीरता से विचार करें।

मैंने उनसे यह भी कहा कि यदि आप चाहते हैं कि स्वामीजी के प्रभाव से जितने दिगम्बर मन्दिर बन गए हैं, वे सुरक्षित रहें और वे सभी लोग दिगम्बर ही बने रहें तो आपको हमारा सहयोग करना पड़ेगा।

आप इस प्रसंग पर खुशियाँ मना रहे हैं? **विरोध का रास्ता कोई रास्ता नहीं है, किसी को गालियाँ देने का रास्ता सच्चा रास्ता नहीं है। रास्ता हमेशा सकारात्मक होता है।**

यदि आपको पूज्य गुरुदेवश्री के अनुयायियों में कोई कमी लगती है तो जब प्रेम से बैठकर उन कमियों की चर्चा करेंगे और धीरे-धीरे उन लोगों को उन कमियों के बारे में कहेंगे तो वे अपनी कमियाँ जरूर निकालेंगे।

कमियाँ उनको बताने के बाद भी यदि वे नहीं निकाल पाते हैं तो भी कोई बात नहीं; क्योंकि हम सब लोगों के अन्दर भी तो बहुत कमियाँ हैं, यदि हमारे अन्दर कमियाँ नहीं होती तो हम ४ गति और ८४ लाख योनियों में भ्रमण नहीं करते।

यदि कानजीस्वामी के भक्तों में कमियाँ हैं और यदि वे कमियाँ आप निकालना चाहते हैं तो पहले **आप लोगों को कानजीस्वामी की जय बोलनी पड़ेगी, कानजीस्वामी की प्रशंसा करनी होगी, उनक**

गुणानुवाद करना पड़ेगा। ऐसा सुनकर जब स्वामीजी के भक्तों का हृदय गद्‌गद् हो जायेगा; तब आप उनसे उनकी कमियों को निकालने का आग्रह कर सकोगे, तभी यह संभव होगा कि वे अपनी कमी निकालें।

यदि कानजीस्वामी को गालियाँ देकर इनकी कमियाँ निकालना चाहोगे तो यह संभव नहीं है; क्योंकि इन लोगों की जिनके प्रति अपार श्रद्धा है, उनको भला-बुरा कहने से इन्हें कोई बात नहीं समझाई जा सकती है। समझाना तो बहुत दूर की बात है - उन्हें यह बात बताई भी नहीं जा सकती है।

इतना कहने के बाद मैंने फिर उनसे कहा - यदि आप उन लोगों को दिगम्बर जैन समाज से जोड़कर रखना चाहते हो तो हम लोग ही वह जोड़ने का काम कर सकते हैं। यदि आप हमें उखाड़ना चाहोगे तो फिर यह संवाद का रास्ता भी समाप्त हो जायेगा।

इसीलिए मैं दृष्टि के विषय के संदर्भ में बार-बार गुरुदेवश्री के कथनों को उद्‌धृत कर यह बताना चाहता हूँ कि ऐसा नहीं है कि मेरे कथन गुरुदेवश्री के कथनों से नहीं मिलते हैं।

इसप्रकार गुरुदेवश्री ने गुणभेद के संबंध में प्रवचनरत्नाकर में कहा है कि अनन्तगुणात्मक, अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रभुता, स्वच्छता आदि अनन्त गुणों को लक्ष्य में लेने पर राग ही उत्पन्न होता है। नवतत्त्वों के भेद की बात तो दूर ही रहो, यदि गुण-गुणी का भेद भी खड़ा होगा तो निर्विकल्प दशा नहीं होगी। **वस्तु और उसकी शक्तियाँ - ऐसा भेद भी दृष्टि का विषय नहीं बनता। दृष्टि का विषय तो अभेद, अखण्ड, एक ज्ञायकभाव ही है। दृष्टि स्वयं पर्याय है, वह भी दृष्टि के विषय में नहीं आती, वह भी ध्यान का ध्येय नहीं बनती।**

दृष्टि के विषय में गुण का भेद, प्रदेश का भेद, काल का भेद - आदि कोई भी भेद शामिल नहीं है। लोगों को ऐसा लगता है कि गुणों

और प्रदेशों में से मात्र उनका भेद निकाला है और गुणों व प्रदेशों को रख लिया है, जबकि पर्यायों को दृष्टि के विषय में से सम्पूर्णतया निकाल दिया है।

अरे भाई ! **ऐसा नहीं है, जिसप्रकार गुणभेद, प्रदेशभेद को पर्यायार्थिकनय का विषय होने से दृष्टि के विषय में से निकाला है; उसीप्रकार पर्यायभेद को भी दृष्टि के विषय में से निकाला है। अनुस्यूति से रचित पर्यायों का प्रवाह तो दृष्टि के विषय में शामिल ही है।**

इसी संदर्भ में मैं एक बात और कहना चाहता हूँ कि जिनवाणी में कथन किसप्रकार होता है।

जिनवाणी में द्रव्यों के नामों का उल्लेख छह द्रव्यों के रूप में भी आता है और दो द्रव्यों के रूप में भी आता है। छह द्रव्यों के नाम जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल हैं और इन्हीं का दो द्रव्यों के रूप में उल्लेख हमें द्रव्यसंग्रह में मिलता है –

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा।।[१]

इस गाथा में जीव और अजीव के रूप में दो द्रव्यों के नाम कहे हैं। लेकिन इन दोनों कथनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है; क्योंकि पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये पाँच द्रव्य अजीव ही हैं।

द्रव्यों में तो छह द्रव्यों को दो द्रव्यों के रूप में कहा जा सकता है; लेकिन तत्त्व व्यवस्था में सात तत्त्वों को जीव–अजीव इन दोनों को दो तत्त्वों के रूप में नहीं कहा जा सकता है।

तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी ने सात तत्त्वों में जीव, अजीव के बाद पृथक् से आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष का उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट होता है कि आस्रवादि तत्त्व अजीव में शामिल नहीं हैं।

---

१. द्रव्यसंग्रह, गाथा १

वस्तुव्यवस्था में जहाँ द्रव्यों में पुद्गलादि पाँच द्रव्यों को अजीव में शामिल किया है, वहीं तत्त्वव्यवस्था में आस्रवादि तत्त्वों को अजीव में शामिल नहीं किया है।

इसका कारण यह है कि द्रव्यों में जो पुद्गल द्रव्य है, वह अजीव ही है, इसलिए उसको अजीव में शामिल किया जा सकता है; लेकिन आस्रव अजीव ही नहीं है, उसमें द्रव्यास्रव पुद्गलरूप होने से अजीव है और भावास्रव जीव का परिणाम है।

तत्त्वार्थसूत्र में छठवें अध्याय में **जीवाजीवाधिकरणं च** सूत्र है, इस सूत्र में यह कहा है कि आस्रव के दो अधिकरण (आधार) हैं – जीव और अजीव अर्थात् आस्रव के द्रव्यास्रव और भावास्रव – ये भेद न करके जीवास्रव और अजीवास्रव – ये दो भेद किए। ऐसे ही बंधादिक के भी जीवबंध-अजीवबंध, जीवसंवर-अजीवसंवर, जीवनिर्जरा-अजीवनिर्जरा, जीवमोक्ष-अजीवमोक्ष – ऐसे भेद किये हैं।

यदि आस्रवादिक को जीव या अजीव में शामिल करना हो तो उनके उपर्युक्त प्रकार से भेद करने पड़ेंगे, तभी जीवास्रव को जीव में, अजीवास्रव को अजीव में, जीवबंध को जीव में, अजीवबंध को अजीव में – इसप्रकार शामिल कर सकेंगे।

हम द्रव्यों की तरह तत्त्वों को बिना उत्तर भेद किए अजीव में शामिल नहीं कर सकते।

तत्त्वव्यवस्था में सात तत्त्व इसलिए बन गए; क्योंकि आस्रवादिक पर्यायों में से जीव की पर्यायों को जीव में शामिल करना चाहिए और अजीव की पर्यायों को अजीव में शामिल करना चाहिए; लेकिन ये आस्रवादिक पर्यायें पर्यायार्थिकनय का विषय हैं, द्रव्यार्थिकनय का विषय नहीं हैं; अतः द्रव्यार्थिकनय का विषय अलग करने के लिए पर्यायों को अलग रखना चाहिए, इसीलिए आस्रवादिक पर्यायों को जीव-अजीव में शामिल न करते हुए तत्त्वव्यवस्था में आस्रवादि तत्त्वों को अलग ही रखा।

यदि आस्रवादिक के जीवास्रव, अजीवास्रव भेद करके जीव-अजीव में शामिल करते हैं तो वह जीव, दृष्टि का विषयभूत जीव नहीं रहेगा; जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है; क्योंकि जीवास्रवादि जीव में शामिल करने से राग और मिथ्यात्व भी शामिल होते हैं, पर्याय भी शामिल होती है; इसलिए दृष्टि के विषयभूत जीव में से इन सभी को अलग रखने के लिए आस्रवादिक जीव-अजीव से भिन्न तत्त्व कहे गये।

इसप्रकार दृष्टि का विषयभूत जीव, अजीव और आस्रवादिक से भी भिन्न है। यदि जीव को मात्र अजीव से भिन्न कहते हैं तो अजीव में द्रव्यास्रवादिक ही शामिल हैं, भावास्रवादिक नहीं।

अतएव दृष्टि के विषयभूत द्रव्य में से भावास्रवादिक को भी निकालने के लिए उसे आस्रवादिक से भी भिन्न कहा। दृष्टि का विषयभूत द्रव्य तो भावमोक्ष अर्थात् मोक्षपर्याय से भी भिन्न है; इसलिए मोक्ष को भी जीव में शामिल नहीं किया।

जो अजीव और आस्रवादिक, इन सबसे भिन्न है – ऐसे जीव को दृष्टि का विषय बनाने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी।

अरे भाई ! वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन के लिए द्रव्यव्यवस्था है; आत्मकल्याण के लिए तत्त्वव्यवस्था है। यह तत्त्वचर्चा अध्यात्म का अंग है और द्रव्यचर्चा सिद्धान्त का अंग है।

अत: सभी पर्यायों को तत्त्वव्यवस्था में अलग स्थान मिला है।

तत्त्वव्यवस्था में सातों तत्त्वों के अलग-अलग होने को हम इस उदाहरण से अच्छी तरह समझ सकते हैं। अमेरिका में यदि एक परिवार में मिया-बीबी और दो बच्चे रहते हैं, तो उनके मकान में कम से कम पाँच बेडरूम होते हैं, यहाँ तक कि दो वर्ष के अथवा एक वर्ष के बच्चे का भी अलग से बेडरूम होता है। वहाँ ४ वर्ष के लड़के का अलग कमरा होता है और ६ वर्ष के लड़के का अलग कमरा होता है। यदि वे

एक-दूसरे के कमरे में जाते हैं तो पूछकर जाते हैं और एक-दूसरे के कमरे में किसी के सामान को छूते भी नहीं हैं।

दो वर्ष का बच्चा भी अपने माँ-बाप के कमरे में जाएगा तो पूछकर जाएगा अर्थात् दरवाजा खटखटा कर जाएगा, उन बच्चों को इस बात की ट्रेनिंग दी जाती है।

बच्चे को उसके मम्मी-पापा अपने कमरे में आने से तभी मना कर सकते हैं, जब उसे उसका अलग कमरा और सारी व्यवस्थाएँ दी जाएँ। यदि उसके कमरे में सारी सुख-सुविधाएँ नहीं होंगी तो मम्मी-पापा न तो उसे अपने कमरे में आने से रोक सकते हैं और न ही उससे यह कह सकते हैं - जब भी आओ, पूछकर आना। वह बच्चा तो अपने मम्मी-पापा के कमरे में जाएगा ही।

उसीप्रकार मैं यह कहता हूँ कि तत्त्वव्यवस्था में जब पर्यायों को अर्थात् आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष को अलग-अलग तत्त्व कहकर जीव और अजीव से अलग कर दिया है तो फिर ये जीव और अजीव में क्यों शामिल होंगे?

द्रव्यव्यवस्था में तो ये जीव और अजीव में ही शामिल होंगे; क्योंकि वहाँ इनकी कोई अलग व्यवस्था नहीं है; लेकिन तत्त्वव्यवस्था में इनके जीव-अजीव में शामिल होने की समस्या ही नहीं है; क्योंकि **इन्हें पृथक् तत्त्व बना दिया है। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष - इनमें जीव-अजीव की सभी पर्यायें शामिल हैं।**

निगोद से लेकर मोक्ष तक जीव की समस्त विकारी और अविकारी पर्यायें - इन आस्रवादिक तत्त्वों में शामिल हैं। इन आस्रवादिक के अलावा जीव की ऐसी कोई भी पर्याय नहीं है, जिसमें हम जीव में शामिल करना चाहें।

कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त विकारी और अविकारी पर्यायें आस्रवादिक पाँच तत्त्वों में ही शामिल है, जीव में शामिल नहीं है।

समस्त विकारी और अविकारी पर्यायों से रहित जीवतत्त्व ही द्रव्यदृष्टि का विषय है। यही सम्पूर्ण कथन का सार है।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह बात उभर कर सामने आती है कि दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा में पर्यायार्थिकनय की विषयभूत सभी पर्यायों में से कोई भी पर्याय शामिल नहीं है।

ध्यान रहे पर्यायार्थिकनय के विषय में गुणभेद, प्रदेशभेद और कालभेद – सभी आ जाते हैं, लेकिन इन पर्यायों का अनुस्यूति से रचित प्रवाह नहीं आता है।

इन पर्यायों से पार भगवान आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्यायों की उत्पत्ति होती है; मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है, मोक्ष होता है; इन्हीं पर्यायों से पार भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन, इसे निज जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और इसमें ही जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है, शेष सब उपचार है।

दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट हुए बिना; उसमें अपनापन कैसे स्थापित किया जा सकता है ?

भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होने का नाम ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है और उसी में जमना-रमना, सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र है।

सभी भव्यात्मा दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को जानकर, पहचानकर; उसी में जमकर-रमकर पर्याय में परमात्मपद प्राप्त कर सुखी हों – इस भावना के साथ विराम लेता हूँ। ●

अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है, यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा-अधर्म है।

अपने में से अपनापन खो जाना ही अनन्त दुःखों का कारण है और अपने में अपनापन हो जाना ही अनन्त सुख का कारण है। अनादिकाल से यह आत्मा अपने को भूलकर ही अनन्त दुःख उठा रहा है। – **आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-४६**

डॉ. भारिल्ल पर प्रकाशित साहित्य

१. तत्त्ववेत्ता डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल (अभिनंदन ग्रंथ) १५०.००
२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व और कृतित्व - डॉ. महावीरप्रसाद जैन ३०.००
३. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल और उनका कथा साहित्य – अरुणकुमार जैन १२.००
४. डॉ. भारिल्ल के साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन - अखिल जैन बंसल २५.००
५. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के साहित्य का समालोचनात्मक अनुशीलन – सीमा जैन २५.००
५. गुरु की दृष्टि में शिष्य ५.००
६. मनीषियों की दृष्टि में : डॉ. भारिल्ल ५.००

प्रकाशनाधीन साहित्य

७. शिक्षाशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के शैक्षिक विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन – नीतू चौधरी
९. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व – शिखरचन्द जैन
१०. धर्म के दशलक्षण एक अनुशीलन – ममता गुप्ता

दृष्टि का विषय पुस्तक की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1.	श्रीमती पुष्पलता जैन (जीजीबाई) ध.प. अजितकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	1100.00
2.	श्री अमरकान्तजी जैन, भिण्ड	1100.00
3.	श्रीमती रत्नमाला जैन, दिल्ली	1100.00
4.	श्री कृष्णकुमारजी जैन	1100.00
5.	श्री शिखरचन्दजी जैन, गाजियाबाद	1100.00
6.	श्रीमती मालती जैन ध.प. जितेन्द्रजी जैन, हापुड़	1100.00
7.	श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन, मेरठ	1100.00
8.	स्व. श्री झवेरीलाल हजारीलालजी सर्राफ, दाहोद	1000.00
9.	श्री कैलाशचन्दजी जैन, ठाकुरगंज	501.00
	कुल राशि	**9201.00**

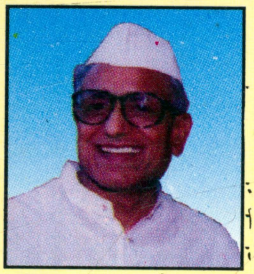

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का नाम आज जैन समाज के उच्च कोटि के विद्वानों में अग्रणीय है।

ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी वि. स. 1992 तदनुसार शनिवार, दिनांक 25 मई, 1935 को ललितपुर (उ.प्रे.) जिले के बरौदास्वामी ग्राम के एक धार्मिक जैन परिवार में जन्मे डॉ. भारिल्ल शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न तथा एम. ए., पी-एच.डी. हैं। मंगलायतन विश्वविद्यालय द्वारा आपको डी-लिट् की मानद उपाधि प्रदान की गई है। समाज द्वारा समय-समय पर आपको विद्यावारिधि, महामहोपाध्याय, विद्यावाचस्पति, परमागमविशारद, तत्त्ववेत्ता, जैनरत्न, अध्यात्मशिरोमणि, वाणी-विभूषणआदि अनेक उपाधियों से विभूषित किया गया है।

सरल, सुबोध तर्कसंगत एवं आकर्षक शैली के प्रवचनकार डॉ. भारिल्ल आज सर्वाधिक लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता हैं। उन्हें सुनने देश-विदेश में हजारों श्रोता निरन्तर उत्सुक रहते हैं।

आध्यात्मिक जगत में ऐसा कोई घर न होगा, जहाँ प्रतिदिन आपके प्रवचनों के कैसिट न सुने जाते हों तथा आपका साहित्य उपलब्ध न हो। धर्म प्रचारार्थ आप 33 बार विदेश यात्रायें भी कर चुके हैं।

जैन जगत में सर्वाधिक पढ़े जानेवाले डॉ. भारिल्ल ने अब तक छोटी-बड़ी 86 पुस्तकें लिखी हैं और अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अब तक आठ भाषाओं में प्रकाशित आपकी कृतियाँ 45 लाख से भी अधिक की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुकी हैं। ग्रन्थाधिराज समयसार पर आपके नियमित प्रातः 7.00 से 7.25 बजे तक जिनवाणी चैनल पर प्रवचन प्रसारित हो रहे हैं।

सर्वाधिक बिक्रीवाले जैन आध्यात्मिक मासिक 'वीतराग-विज्ञान' हिन्दी, मराठी तथा कन्नड़ के आप सम्पादक हैं। श्री टोडरमल स्मारक भवन की छत के नीचे चलनेवाली विभिन्न संस्थाओं की समस्त गतिविधियों के संचालन में आपका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

वर्तमान में आप श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के अध्यक्ष, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर के महामन्त्री हैं। आप मंगलायतन विश्वविद्यालय में सर्वोच्च समिति (कोर्ट) के सदस्य एवं दर्शन विज्ञान संकाय के ऑनरेरी डीन हैं।

समाज की शीर्षस्थ संस्थाओं यथा-दिगम्बर जैन महासमिति, अ.भा. जैन परिषद्, अ.भा. जैन पत्र सम्पादक संघ आदि से भी आप किसी न किसी रूप में जुड़े हैं।